योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 31 नवम्बर, 1998 अंक 8

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) - 283 202

SIDDHYOG

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु०	7-00
वार्षिक शुल्क	रु०	70-00
द्विवार्षिक	रु०	130-00
आजीवन	रु०	700-00

इस अंक में

- यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य 1
- अमृत कण 2
- श्री प्रभुजी की योग शिक्षा-पद्धति (विशेष लेख)...3
  योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज
- योग साधना में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय
  (सम्पादकीय) 9
- किमस्ति योगः
  द्वारका प्रसाद शर्मा 12
- योगयुक्त जीवन में है सच्चा आनन्द
  प्रो. आचार्य चन्द्रहास शर्मा 16
- भारतीय कला पर सिद्धयोग का प्रभाव
  राजकिशोरी सिंह 19
- प्रेरक वचन
  डा. विजय सिंह 22
- भक्तियोग की पराकाष्ठा का दिव्य विवेचन
  डा. स्वामी केशवाचार्य 24
- योग और विश्वकल्याण
  राकेश कुमार श्रीवास्तव 'राजू' 32
- आस्थाओं की अध्यात्म परिणति
  पं० महेश बोहरे, ज्योतिर्विद् 39

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31 अंक 8	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	नवम्बर 1998

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।।

(मुण्डकोपनिषद् मु. १ खं १/९)

अर्थात्

जो सर्वज्ञ तथा सबको जानने वाला है, जिसका ज्ञानमय तप है उसी परमेश्वर से यह विराट स्वरूप जगत् तथा नाम रूप और भोजन उत्पन्न होते हैं।

वे सम्पूर्ण जगत् के कारणभूत परम पुरुष परमेश्वर साधारण रूप से तथा विशेषरूप से भी सबको भलीभाँति जानते हैं, उन परब्रह्म का एकमात्र ज्ञान ही तप है। उन्हें साधारण मनुष्यों की भाँति जगत् की उत्पत्ति के लिए कष्ट सहन रूप तप नहीं करना पड़ता। उन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर के संकल्पमात्र से ही यह प्रत्यक्ष दीखने वाला विराट् स्वरूप जगत् (जिसे अपर ब्रह्म कहते हैं) अपने आप प्रकट हो जाता है और समस्त प्राणियों तथा लोकों के नाम, रूप और आहार आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं।

अमृत कण

शुभाशुभ कर्म

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः।। ३।।

मनुष्यों के कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म शुभाशुभ फल देने वाले होते हैं और उनसे उत्पन्न होने वाली मनुष्यों की उत्तम (देव) मध्यम (मनुष्य आदि) तथा अधम (तिर्यक् आदि) गतियां (जन्म) भी होती हैं।

* * *

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम्।।४।।

उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद से तीन प्रकार के तथा मन, वचन तथा शरीर के आश्रित होने से तीन अधिष्ठान वाले दस लक्षणों से युक्त देही (जीव) के मन को कर्म में प्रवृत्त करने वाला जानो।

* * *

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।। ५।।

(१) दूसरे के धन को अन्याय से भी लेने का विचार करना, (२) मन से निषिद्ध कार्य (ब्रह्महत्यादि पाप कर्म) करने की इच्छा करना (३) असत्य हठ (परलोक आदि कुछ भी नहीं है, यह देह ही आत्मा है, इत्यादि रूप से दुराग्रह) करना, ये तीन प्रकार के मानसिक अशुभ कर्म हैं।

* * *

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।६।।

कटु बोलना, झूठ बोलना, परोक्ष में किसी का दोष कहना और निष्प्रयोजन बातें करना, ये चार प्रकार के वाचिक अशुभ कर्म हैं।

* * *

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्।।७।।

बिना दी हुई (दूसरों की) वस्तु को लेना, शास्त्र वर्जित हिंसा करना और परस्त्री के साथ सहवास करना—ये तीन प्रकार के शारीरिक अशुभ कर्म हैं।

(मनुस्मृति के द्वादशोऽध्याय से)

विशेष लेख

श्री प्रभुजी की योग शिक्षा-पद्धति

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मैंने तुम्हें गीता उपदेश के प्रकरण में भगवान श्री कृष्ण चन्द्र के द्वारा बताई योगियों के कोर्स का वर्णन किया था। उसी शिक्षा को आनन्दकन्द श्री प्रभु जी ने नैपाल हिमालय से आकर देनी आरम्भ की थी। जिन साधकों ने उस शिक्षा को पाकर विधिवत् योगाभ्यास किया वे तत्व विजयी पूर्ण सिद्ध होकर जंगलों में बैठ गये। मैंने एक दिन अपने बड़े गुरूभाई हरिहरानन्द के विषय में बताया था, उन्हें श्री प्रभु जी ने तत्व विजयी सिद्ध बनाकर नैपाल में शीशगिरी के पहाड़ पर अजर अमर बना कर बिठा दिया। गीता का वह उपदेश मैंने तुम्हें बताया था—

भूमिरापो ऽनलोवायु: खमनोबुद्धिरेव च
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

इसमें भगवान ने अपनी आठ प्रकार की अपरा प्रकृति का वर्णन किया है। इनमें प्रथम पृथ्वी फिर जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार क्रम से बताये गये हैं। तुमने सृष्टि के क्रम का वर्णन पढ़ा होगा— '**तस्माद्वा एतस्माद्वात्मन: आकाश: सम्भूत:, आकाशाद् वायु:, वायोरग्नि:, अग्नेराप:, अद्भ्य: पृथ्वी**' यह सृष्टि का अवरोह क्रम है। सूक्ष्म से स्थूल की प्रक्रिया है। योगी जब साधना करता है तो आरोह क्रम से जाता है अर्थात् स्थूल से सूक्ष्म में जाता है। पहले पृथ्वी फिर जलादि तत्वों का क्रमश: साक्षात्कार करता है। श्री प्रभु जी ने नैपाल से आकर जो हमें रास्ता बताया है ठीक यही रास्ता है। सर्वप्रथम मूलधार चक्र की साधना में योगी पृथ्वी तत्व पर अधिकार करता है। श्री प्रभु जी अपने बालकों को इस जमीन पर रहने वाले बड़े—बड़े सिद्ध, महासिद्धों को दिखा दिया करते थे। मूलाधार कमल पर ध्यान करने वाला व्यक्ति '**यं यं चिन्तयते कामम्। तं तं प्राप्नोति निश्चितम्**' के सिद्धान्तानुसार कामनाओं की सिद्धि पा लिया करता है। मूलाधार कमल में ध्यान के अभ्यास से इष्ट देव जब दीखने लग जाते हैं तो साधक की सारी कामनायें पूर्ण हो जाती है वहां के अधिष्ठातृदेव में समाधि हो जाये तो गन्ध तन्मात्र का साक्षात्कार हो जाता है। उसे सर्वत्र **गन्धोऽयम्** की अनुभूति होती है। प्रभु जी की एक शिष्या हमारी एक गुरू बहिन अमृतसर की थी। उनका नाम था पैड़ो देवी। उसको गन्ध तन्मात्र का साक्षात्कार था। उसके शरीर से भी दिव्य गन्ध आने लगती थी। पैड़ो अपने निर्माण चित्त से सभी गुरू बहिनों के घर—घर जाकर सुबह जल्दी उठा दिया करती थी। उनमें एक गुरू बहिन बड़ी जिद्दवाली थी। वह श्री प्रभु जी से शिकायत करती थी—प्रभु जी ! पैड़ो सब को ठीक समय पर उठा देती है किन्तु मुझे नहीं उठाती। श्री प्रभु जी ने कहा—पैड़ो। तू इसे भी उठा दियाकर। पैड़ो ने कहा— अच्छा ! प्रभु जी मैं इसे भी उठा दिया करूंगी। दूसरे प्रात: पैड़ो निर्माण चित्त से उसे उठाने गई। वह उठी नहीं तो उसने जोर का चांटा मार दिया। उसकी

एक दाँत टूट गई। श्री प्रभु जी के पास आकर वह रोते हुये कहने लगी—प्रभु जी ! इसने मुझे इतने जोर का चांटा मारा है कि मेरी दाँत ही टूट गई है। पैडो के शरीर से सुगन्ध निकलती थी। वह जिधर से भी गुजरती थी लोग कहते थे यह देखो ! कितना इत्र फुलेल लगाया करती है। लोगों के इस तरह के शब्दों को सुनते—सुनते पैडो तंग आ गई। प्रभु जी से कहने लगी प्रभु जी ! लोग मेरी मजाक उड़ाते हैं आप यह सुगन्ध हटा दें। प्रभु जी ने कहा— अच्छा ! कल से यह गन्ध तेरे शरीर से नहीं आयेगा। अस्तु। पृथ्वी के बाद जल का समुद्र आता है स्वाधिष्ठान चक्र में योगी जल एवं रस तन्मात्र का साक्षात्कार— जो मणिपूरक चक्र का ध्यान करता है उसको दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है। अनाहत में जाकर स्पर्श तन्मात्र का साक्षात्कार करता है अनाहत में ध्यान करने से दिव्य स्पर्श की अनुभूति होती है। स्पर्शतन्मात्र का साक्षात्कार होने पर **'स्पृशति चन्द्रमसमपि'** योगी चन्द्रमा को भी छू लेता है। विशुद्ध चक्र में आकाश का साक्षात्कार करता है, शब्द तन्मात्र का साक्षात्कार करता है।

इस प्रकार से योगी क्रम से मूलाधार आदि चक्रों का ध्यान करता हुआ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द तन्मात्र का साक्षात्कार करता है। तन्मात्रों के अलग—अलग लोक हैं। उन—उन लोकों में एक ही तन्मात्रा की प्रधानता रहती है। जैसे शब्द तन्मात्र का लोक है वहाँ पर शब्द ही शब्द—नाद ही नाद सुनाई देते हैं। इसी प्रकार से स्पर्श, रूप, रस आदि तन्मात्राओं के न्यारे—न्यारे लोक हैं। जिस प्रकार से अमृतसर में पहले समय में नमक मण्डी में नमक ही नमक मिलता था, हींग मण्डी में हींग ही हींग मिलती थी। इसी प्रकार से तन्मात्र लोकों की बात है। किन्तु पंसारी की दुकान में नमक, हींग तथा सभी खाद्य पदार्थ मिल जाया करते हैं। इसी प्रकार से हमारा यह जो पृथ्वी लोक है इसमें सब कुछ थोड़े—थोड़े विद्यमान हैं। विचारानुगम समाधि में प्रभु जी अपने साधक बच्चों को स्वर्गादि लोक दिखा दिया करते थे। ताकि साधक के मन में भोगों की तृष्णा न रहे। देवता लोग साधक को इसी भूमिका में प्रलोभन दिया करते हैं। योग दर्शन में उस अवस्था में देवताओं के प्रलोभन देने का संकेत मिलता है। वहाँ पर साधक को अहंकार एवं प्रलोभन से बचने का उपदेश दिया है—**''स्थानित्यु—पनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसङ्गात्''** अर्थात् इस समाधि में देवता लोग प्रलोभन दिया करते हैं। साधक को उनके प्रलोभन से दूर रहना चाहिये तथा अपनी स्थिति का अहंकार भी नहीं करना चाहिये। नारद मुनि की तरह काम विजय का अहंकार नहीं करना चाहिए। मैंने अपने एक बच्चे रमणीगिर का उदाहरण देकर तुम्हें समझाया था कि उसकी ऐसी स्थिति में देवता प्रलोभन देने लगे। हमने उसे इन दृश्यों को देखने से मना किया था। किन्तु अवहेलना के कारण उसका पतन हो गया। इस अवस्था से कोई—कोई गुरु भक्त ही आगे निकला करता है। विशुद्ध चक्र से आगे आज्ञा चक्र है। **'आज्ञा चक्रे ततो गुरू'** इसके अधिष्ठातृदेव गुरु होते हैं। इस चक्र में कमल की दो पंखुडियाँ हैं। एक पंखुडी पर मन का साक्षात्कार तथा दूसरी पर बुद्धि का साक्षात्कार योगी करता है। इससे आगे सहस्त्रार कमल है। यहाँ पर 'अस्मि' 'अस्मि' अहमेवास्मि, अस्मि तत्व का साक्षात्कार होता है। अस्मि तत्व का साक्षात्कार करने के बाद योगी **'ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा'** की स्थिति के लिये प्रयत्नशील रहता है। 'ज्ञान तृप्तात्मा का अर्थ है।' योगी प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझकर के उन

पर अधिकार प्राप्त कर ले। प्रकृति के पाँच तत्वों एवं तन्मात्राओं पर अधिकार हो जाता हैं। पृथ्वी तत्व पर अधिकार कर लेने पर पृथ्वी में जल की तरह डुबकी लगा सकता हैं। अग्नि तत्व पर अधिकार कर लेने पर आग्नेय शरीर बना लेता है उसे अग्नि से कोई भय नहीं होता, वायु एवं आकाशादि तत्वों पर अधिकार कर लेने पर स्वेच्छा से जहाँ चाहे विचरण कर सकता है। जल तत्व पर अधिकार कर लेने पर जल पर उसी प्रकार चल लेता है जैसे हम लोग पृथ्वी पर चलते हैं। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है— **''उदान जयात् जलपंककण्टकादिष्वसङग: उत्क्रान्तिश्च''** अर्थात् उदान वायु पर जय हो जाने पर योगी, जल पंक एवं कण्टक से निर्लेप रहता है। खेचरी से भी पानी पर पृथ्वी की तरह चल लेता है। मैं एक आप बीती घटना सुनाता हूँ श्री प्रभु जी मुझे और भाई नरसिंह मूर्ति को खेचरी का अभ्यास करा रहे थे। खेचरी में दोहन, चालन तथा छेदन क्रियायें करनी होती है, दोहन क्रिया में सौंठ या काली मिर्च का चूर्ण जीभ के दोनों ओर लगाकर जैसे दूध निकाला जाता है उस तरह से जीभ का दोहन किया जाता है। चालन क्रिया में जीभ को कपड़े से पकड़ करके धीरे—धीरे इधर—उधर खींचा जाता है। छेदन क्रिया में बांस की ताड़ी से धीरे—धीरे जीभ के नीचे की तन्तु घिसी जाती है। श्री प्रभु जी ने अपने सामने ही छेदन भी थोड़ी—थोड़ी करा दी थी और अभ्यास का आदेश देकर स्वयं कनखल चले गये। उनके विछोह में एक दो दिन मन कुछ ऐसा ही रहा। हमारा खेचरी का अभ्यास कम हो गया। ध्यानाभ्यास का क्रम तो बराबर चल रहा था इसी बीच ध्यान में देखता हूँ कि मैं पानी पर चल रहा हूँ। कनखल से ही आवाज आई। श्री प्रभु जी बच्चों को दो शब्द कहा करते थे। एक तो कहते थे अन्यायी और दूसरा कहते थे औतर ! मायने उद्दण्डी। श्री प्रभु जी ने कहा— अन्यायी ! तुमने खेचरी का अभ्यास छोड़ दिया। यदि बराबर करता रहता तो अब तक इसी प्रकार से पानी पर चल लेता।' इन वचनों को सुनकर के ध्यान से उठकर मैंने उतावलेपन में लोहे की ब्लेड से जीभ के नीचे की तन्तु को काट लिया। बस ! फिर क्या था। मेरा मुख खून से भर गया। उस समय हमारे एक गुरू भाई रतन लाल ध्यान में बैठे हुये थे। श्री प्रभु जी ने उसे ध्यान में ही आज्ञा दी— चन्द्रमोहन को देखो। उसने अपनी जीभ काट ली है। तुम इस जड़ी को उखाड़ लाओ। (जड़ी ध्यान में दिखाई थी) और इसका रस इसके मुख में भर दो। नहीं तो यह गूंगा ही हो जायेगा। दुनियाँ वाले क्या कहेंगे कि योगियों के बच्चे गूंगे होते हैं''। भाई रतनलाल जी जड़ी उखाड़कर लाये और उसका रस मेरे मुख में भर दिया। दो तीन घण्टे में ही मैं बोलने लायक हो गया। जब मैं जीभ काट रहा था उसी समय प्रभु जी मेरे सामने प्रकट हुये और झट से मेरे हाथ से ब्लेड छीन ली और दूर फैंक दिया। कनखल से एक गुरू भाई ऋषिकेश आश्रम आया। श्री प्रभु जी ने उससे कहला दिया— चन्द्रमोहन से कहना कि अब वह खेचरी क्रिया न करे। अस्तु।

मैं तुम्हें **'ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा'** की बात समझा रहा था। पाँच भूतों एवं तन्मात्राओं पर पूरा—पूरा अधिकार पाने वाला योगी ज्ञान तृप्तात्मा होता है। बुद्धि और पुरूष का भिन्न—भिन्न साक्षात्कार करके योगी विज्ञान तृप्तात्मा कहलाता है। उसे ही युक्त योगी कहते है। वह ही पूर्ण आत्मा साक्षात्कार का अधिकारी होता है। श्री प्रभु जी ने नैपाल से आकर जितना भी कार्य

किया वह बिल्कुल शास्त्रीय पद्धति का था। **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ** यह अखिलात्मा का उपदेश है। मनुष्य को शास्त्र विधि से चलना चाहिये। उपनिषदों में, वेद में, स्मृति में जैसा उपदेश है उन सब का हम को पालन करना चाहिये। हमारे ग्रन्थों में कुछ लोगों ने मिलावटें पैदा कर दी हैं। जिससे सन्देह पैदा हो जाता है। उन लोगों के मन में जैसी–जैसी प्रेरणा रही वैसा उन्होंने लिख डाला और बहुत से अन्धकार में चलने वाले उन बातों को मान कर चल भी पड़े। वह कलंक रहा हमारे ऋषि–मुनियों पर। वस्तुतः वह ऋषि–मुनियों का कथन नहीं था केवल मात्र कुछ लोगों की मानस भ्रान्ति थी। कहने वाले ने तो यहाँ तक कह दी **मद्यं मासं च मत्स्यं च मुद्रा मैथुनमेव च'**।

इनको लोगों ने धर्म मान लिया और कह दिया यह भी मुक्ति के साधन हैं। यह मुक्ति के साधन तो नहीं हैं। मरने के साधन जरूर हैं। उन लोगों के कर्म खराब आ गये। उन्हें मनुष्य जन्म कभी नहीं मिल सकता। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि हमें वेद, स्मृतियों का उपदेश मानने चाहिये। जो इस प्रकार के अन्य भ्रामक ग्रंन्थ हैं। उन पर नहीं चलना चाहिये। गीता में प्रकरण आया है **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यम् चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये'**। एक तरफ तो यह उपदेश है कि जिस पद को प्राप्त करने के लिये मनुष्य ब्रह्मचर्य पालन करता है और दूसरी तरफ मिलावट करने वाले कहते हैं ब्रह्मचर्य कोई चीज ही नहीं। हमारे मिर्जापुर के एक शिष्य श्री गोपाल दिल्ली में कानून मन्त्री थे, तुम्हारे गुरू भाई थे। उन्होंने एक बार मुझे अपनी कोठी में बुलाया। वहाँ पर उनके साथी कई मन्त्री मुझसे मिलने के लिये आये। उन लोगों ने मुझसे बहुत सारे तर्क वितर्क किये। वे कहने लगे—माँस क्यों नहीं खाना चाहिये ? भोग क्यों नहीं भोगने चाहिये ? यदि इन इन्द्रियों की उपयोगिता ही नहीं होती तो भगवान को ये इन्द्रियाँ लगानी ही नहीं चाहिये। वे सब एक ही प्रकार की मनोवृति के थे। सब भगवान की भूल निकालने लगे। परमात्मा को रसनेन्द्रिय नहीं लगाना था। उपस्थेन्द्रिय नहीं लगाना था आदि–आदि। मैंने कहा— अच्छा भाई ! परमात्मा से गलती हो गई परन्तु परमात्मा ने यह भी तो कहा— **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यचरन्ति'** भगवान के इस आदेश को क्यों नहीं मानते हो ?' अस्तु। भगवान् ने गीता के सातवें अध्याय के आरम्भ में वही उपदेश किया है जो आनन्द कन्द श्री प्रभु जी ने नैपाल हिमालय से आकर के हमें दिया है। तुम समझते होगे हमारा कोई मजहब है, हमारा मजहब नहीं है। हम मजहबी नहीं हैं। हमारा तो मजहब वह है जिसे कृष्ण चन्द्र मानते हैं हमारा मजहब वह है जो वेदों में वर्णित है। हमारा मजहब वह है जिसका सिद्धान्त मनु जी ने कहा है— जो उपनिषदों में है वही हमारा मजहब है। आनन्द कन्द श्री प्रभु जी हिमालय से आये। देखो ! जिनको यथार्थ में दीक्षायें नहीं हुई उनको तो कुछ भी बता दिया गया, मन की एकाग्रता श्री प्रभु जी ने लोगों को कराई। प्रभु जी का सिद्धान्त बहुत ऊँचा सिद्धान्त था मैंने कल तुम्हें बताया था कि बड़े–बड़े प्रचारक जिनके आज हजारों शिष्य हैं हमारे गुरू भाई हैं। बाल योगेश्वर वगैरह हमारे बच्चे ही हैं हमारी जो **''चरणाविन्द गुरुदेव नमामि''** आरती है जिसे ब्र. गोपालानन्द जी ने गोलोकधाम में ध्यान में सुनी है वह उनकी पुस्तकों में है। ब्र. गोपालानन्द जी और हंस जी महाराज की मित्रता थी उन्होंने उनसे वह आरती लिख ली थी। हंस जी महाराज हमारे गुरूदेव

श्री प्रभु जी के ही शिष्य थे। अमृतसर की लाली देवी जी आज काफी मान सम्मान पा रही हैं हमारी गुरु बहिन हैं। श्री प्रभु जी से मेरे सामने दीक्षा ली थी। मैं तथा नरसिंह मूर्ति जी श्री प्रभु जी के पास रहा करते थे। लाली देवी का ध्यान बहुत ऊँचा उठा— श्री प्रभु जी ने कहा—लाली ! समय आयेगा। तेरा प्रभाव बहुत बढ़ेगा किन्तु किसी प्रकार की भी अहंकृति मन में हो तो फिर तुम न्यारा काम करना। अब तक न्यारा काम कर रही है। अमृतसर की हमारी एक बच्ची है शान्ति देवी। वह मेरे साथ विवाद में पड़ गई कि लाली देवी आप की गुरू बहिन नहीं हो सकती। शर्त बँध गई। हमने दो स्त्रियों को उनके पास भेजा। उन्होंने लाली देवी से पूछा—आप योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज को जानती हैं ? उन्होंने कहा— याद नहीं है। फिर उन्होंने पूछा—क्या आपने योगेश्वर प्रभु रामलाल जी से योग साधना आश्रम में दीक्षा ली थी ? उन्होंने कहा— हाँ ! ली थी, यह सब उन्हीं की बदौलत है। फिर उन्होंने कहा—मुझे चन्द्रमोहन जी और नरसिंह जी भी याद आ गये। यह दोनों छोटी आयु के थे इनमें से एक मद्रास का था। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि श्री प्रभु जी मान के इतने (संकेत करके) भी भूखे नहीं थे। ब्र. गोपालानन्द जी जो वरदान एक योगी ने दिया था कि तुम्हें पूर्ण सद्‌गुरु मिलेंगे। उन्होंने नकुड़ में एक योगी मिले सहजानन्द। यह उनके शिष्य बने। वह अत्यन्त क्रोधी स्वभाव के थे। ब्र. गोपालानन्द जी की श्री प्रभु जी से सहारनपुर में भेंट हो गयी। वे दीक्षित हो गये सहजानन्द को पता चला— उन्होंने ब्र. गोपालानन्द को पाँच शाप दे दिये। गोपालानन्द जी ने प्रभु जी को पत्र लिखा। प्रभु जी ! इस प्रकार से स्वामी सहजानन्द ने मुझे पाँच शाप दिये हैं। श्री प्रभु जी ने उत्तर दिया— मेरे पत्र के मिलते ही तुम्हारे सारे शाप निवृत हो जायेंगे। दिन के १२ बजे से ८ बजे तक शाप का प्रभाव रहा किन्तु प्रभु जी के पत्र मिलते ही शाप की निवृति हो गई। प्रभु जी ने शाप के स्थान पर वरदान देते हुये लिखा था— 'तेरे औषधियाँ अमृत की तरह काम करेंगी और अन्त में मेरी सद्‌गति होगी'। प्रभु जी ने सारे शाप उलट दिये। लाहौर में ब्र. गोपालानन्द जी व मुल्खराज जी महाराज दोनों योग प्रचार में थे। कृष्ण गली नं० २ में कीर्तन कराना शुरु किया। उस कीर्तन में कम से कम १०० व्यक्ति बेहोश पड़े थे जिनमें शिवानन्द जी मुनि की रेती वाले तथा आर्य समाज के साधु स्वामी सत्यानन्द जी जिन्होंने बाद में रामनाम की महिमा लिखी, सम्मिलित थे। **गोपालानन्द जी का बनाया कीर्तन गोविन्द जय–जय गोपाल जय–जय राधा रमण हरि गोविन्द जय–जय सारे संसार में फैल गया।** प्रभु जी के सामने बीस मण्डलियाँ बनी। बहुत से मण्डली में श्री प्रभु जी के चित्र नहीं रखते थे। केशोराम खन्ना ने श्री प्रभु जी से कहा—प्रभुजी ! ये लोग कीर्तन में आप का चित्र नहीं रखते हैं, श्री प्रभु जी ने पूछा— किसका चित्र रखते हैं ? उन्होंने कहा—भगवान राम का रखते हैं श्रीकृष्ण का रखते हैं भगवान शिव का रखते हैं। श्री प्रभु जी ने कहा—कीर्तन में इन्हीं का चित्र ठीक है हमारे चित्र नहीं। प्रभु जी ने कहा—बताऊँ योगी क्या करते हैं ? 'यू लाईट दिखा दी और पीठ फेर ली'। गोपालानन्द जी की भी दीक्षा वैसे ही हुई थी। **'दिया मिट्टी का ढेला, नूरे हक गोपाल ने देखा'**। श्री प्रभु जी ने उन्हें मिट्टी का ढेला दिया था उसी में सब काम कर दिया। मुल्खराज जी को भी सत्संग करते–करते ही सब दे दिया। बाल कृष्ण दास को भी प्रभु जी

ने कहा—जो भजन नित्य करते हो सो करो। प्रभु जी ने उनका भी उसी में सब कुछ करा दिया। उसी में दिव्य अनुभूतियाँ हुईं। यही दीक्षा थी। ऋषिकेश में शाम के समय श्री प्रभु जी घूमने जाया करते थे। गंगा किनारे पत्थर पर एक साधु भजन में बैठा रहता था। प्रभु जी उसके पास जाते और उसे देख कर चले आते। मैंने पूछा—प्रभु जी आप उन्हें क्यों देखते हैं ? प्रभु जी ने कहा—"बस ! ऐसे ही।" वह साधु तीन दिन बाद दण्डवत् करता हुआ आश्रम में आया कहने लगा—प्रभो ! आप गंगा किनारे आकर मेरे सिर पर हाथ रख जाते थे। मुझे आप का पता नहीं चलता था आप क्या हैं कौन हैं ? आज मैं आप के तेज किरण के सहारे आश्रम आया हूँ। प्रभु जी की दीक्षा ऐसे ही होती थी। कहने का अभिप्राय प्रभु जी क्षण में क्या से क्या कर दिया करते थे। आँख से देख ली दृग दीक्षा हो गई, कृपा हो गई। जो उनकी दृष्टि के सामने पड़ जाते हैं वह भी दीक्षित ही होते हैं। श्री प्रभु जी तो शक्ति वाले बनाना चाहते हैं। साधारण मनुष्य देवताओं का पशु कहा जाता है। किन्तु योगी अपनी कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सारी शक्तियों के मालिक बन जाते हैं। अस्तु।

देखो ! यह कुम्भ का मेला है हमने जगह—जगह पर जाकर देखा है। योग सिद्धान्तों की बात यहाँ कहीं भी सुनने को नहीं मिलती किन्तु यह बात निश्चित है कि योग ही मनुष्य के कल्याण का मूल साधन है यद्यपि गीता में काल चक्र, युग चक्र को एक साथ घुमाने वाले अखिलात्मा भगवान ने कहा है।

'भक्त्या मामभिजानाति यावान यश्चास्मि तत्वत:।।
ततो माम् तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'

अर्थात् भक्ति से मैं जितना व जैसा हूँ इसको भक्त जान लेता है जान लेने के बाद तत्व से जानकर मुझमें प्रवेश कर जाता है यहाँ पर भक्ति से जानने की बात कही गई है। किन्तु प्रवेश योग से ही होगा। योग और भक्ति वस्तुत: कोई अलग वस्तु नहीं है। योग दर्शन में भगवान पतञ्जलि ने **'ईश्वर प्रणिधा—नाद्वा'** कहकर ईश्वर प्रणिधान को समाधि का उपाय बताया है। ईश्वर प्रणिधान अर्थात भक्ति विशेष से ईश्वर साधक के सामने आ जाता है और उसे समाधि जैसी अभिलक्षित वस्तु प्रदान कर देता है। योग का अर्थ है चित्त वृत्तियों का पूर्ण निरोध। तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है कैवल्य का अर्थ है बुद्धि अपने प्राकृत स्वरूप में आ जाये और पुरूष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाये। इस समय बुद्धावस्था में न बुद्धि अपने स्वरूप में है न पुरूष। बुद्धि वस्तुत: जड़ है आत्मा की चेतनता उसे मिली वह भी चेतन हो गई। आत्मा बुद्धि के संयोग से प्रत्ययानुपश्य—बुद्धि बोधात्मा बन गया। खाना पीना, सोना, सुखी—दु:खी होना ये सब बुद्धि के धर्म हैं। जिस प्रकार से ये जो सामने बल्ब है उसको जब तक पीछे से बिजली की तरंगे नहीं मिलेगी तब तक वह जलेगा नहीं। इसी प्रकार से बुद्धि और पुरूष के सम्मेलन से हमारा सब व्यवहार एवं वृत्तियाँ चल रही हैं। चित्तियों का समूलोन्मूलन ही योग कहलाता है। अस्तु।

इस प्रकार से श्री प्रभु जी ने नैपाल से आकर अपने बच्चों को वह शिक्षा दी है जो ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा बनाकर पूर्ण योगी बना देता है। तुम सब ने इसी पद्धति को प्राप्त किया है इसलिये दृढ़ता से अपनी साधना में लग जाओ। जो श्री प्रभु जी के चरण कमलों का चिन्तन करते हुये साधना करेगा, उस पर प्रभु जी कृपा अवश्य होगी सबका भला होगा।

* * *

सम्पादकीय

योग साधना में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय

इससे पूर्व के लेख में योग साधना के विघ्न के रूप में प्रमाद और आलस्य नाम के दो विघ्नों की चर्चा की गई थी। इसके पश्चात का विघ्न **'अविरति'** नाम का है। यह विघ्न साधक को योगपथ पर जाने से रोक देता है। 'अविरति' का अर्थ है मन का सांसारिक वृत्तियों से उपराम नहीं होना अर्थात् साधक के मन में वैराग्य का अभाव। पतञ्जलि जी ने क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट दोनों प्रकार की वृत्तियों को हटाने के लिये अभ्यास और वैराग्य ये दो प्रमुख उपाय बताये है। **'अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः'** अर्थात् अच्छी व बुरी दोनों प्रकार की वृत्ति को हटाने का साधन अभ्यास और वैराग्य है। गीता में भी भगवान **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'** कहकर इसी बात को पुष्ट करते हैं। चित्त की असंख्य वृत्तियां होती हैं किन्तु उनकी जातिगत दृष्टिकोण से विभाजन किया जाये तो यह क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हो जाती है। **क्लिष्ट वृत्ति** वह होती है जो अन्त में दुःख, मोह तथा नाना प्रकार के दुःखों को जन्म देती है। इस प्रकार ये वृत्तियां मनुष्य को घोर यातनाओं में डाल देती हैं। दूसरी वृत्ति होती है **अक्लिष्ट वृत्ति**। इसका परिणाम सुखमय होता है। ये वृत्ति साधक को वैराग्य की ओर ले जाती हैं, समाधि एवं आत्मा दर्शन की ओर उन्मुख करने वाली यह वृत्ति होती है। इस प्रकार से हम जैसा परिणाम चाहते हैं उस प्रकार की वृत्ति प्रवाह में अपने आप को डाल दें। 'अविरति' नाम विघ्न के होने पर साधक क्लिष्ट वृत्तियों से ही घिरा हुआ होता है। साधक ध्यानाभ्यास में तो बैठ जाता है। किन्तु उसका मन व्यर्थ की बातों में भटकता रहता है। एक तरफ तो साधक ध्यानाभ्यास में भी लगा हुआ है किन्तु साथ–साथ अज्ञानजन्य व्यर्थ बातों को भी वह महत्व देता है अपने मन में उनके लिये भी स्थान दिया हुआ है ऐसी स्थिति में मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करते ही वे वृत्तियाँ भी सामने उपस्थित हो जाया करती हैं। इससे मन एकाग्रता को प्राप्त न होकर इधर उधर भटक जाया करता है।

वेदान्त शास्त्र में उत्तम साधकों में शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि **षट सम्पत्ति** का होना परमावश्यक माना जाता है। 'उपरति' के होने पर वैराग्य पुष्ट हो जाता है। इसके लिये वेदान्त शास्त्र में विचार एवं मनन पर बहुत बल दिया जाता है गुरुदेव से योग एवं वैराग्य का उपदेश सुनकर उन पर बार–बार विचार करना चाहिये। इस प्रकार संसार की नश्वरता को सदा ध्यान में रखते हुये इसे स्वप्नवत् मानकर सत्य की खोज में लगे रहना चाहिये। कोई मनुष्य जब साधना मार्ग में चलता है तो उसके सम्पर्क में आने वाले लोग उसके लिये विघ्न भी बन जाया करते हैं, ये प्रशंसक लोग नाना प्रकार की श्लाघाओं से उसकी प्रशंसा व मान बड़ाई में लगे रहते हैं। किसी सन्त ने कहा भी है–

कंचन तजना सहज है सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईर्षा दुर्लभ तजना यह।

अर्थात् व्यक्ति बाह्य वस्तुओं को सहज में त्याग सकता है। स्त्री पुत्र को भी त्याग सकता है किन्तु ईर्ष्या एवं मान बड़ाई को त्यागना बहुत ही कठिन है। इस प्रकार से कुछ साधकों में मान बड़ाई एवं प्रशंसा सुनने की ऐसी आदत पड़ जाती है कि वह उससे आगे निकल नहीं पाता। फिर भर्तृहरि जी के अनुसार **'माने दैन्य भयम्'** का सिद्धान्त उनके लिये लागू हो जाता है।

मान—बड़ाई में किसी प्रकार की कमी न आ जाये बस फिर इस बात की चिन्ता अधिक रहती है। ऐसा व्यक्ति बहुत अधिक बाचाल बन जाया करता है। यही साधक के लिये एक दोष बन जाता है। भगवान् ने गीता में **'अमानित्वम् अदम्भित्वम्'** की बात कही है। अर्थात् साधक को मान की भूख नहीं होनी चाहिये तथा उसे दम्भ अर्थात् ढोंग भी नहीं करना चाहिये। कौन उस अव्यय पद को पाता है भगवान ऐसे साधकों के कुछ लक्षण बतलाते हैं। निम्न श्लोक पढ़िये—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःख संज्ञै गच्छन्त्यमूढ़ा पदमव्ययम् तत्।

अर्थात् जिन्होंने मान और मोह की सीमा को काट लिया है, जो संगदोष जीत चुका है, जिसकी सम्पूर्ण कामनायें समाप्त हो गई हैं तथा जो नित्य अध्यात्म में स्थित हो गया है। सुख:दुख आदि द्वन्द्वों से छूट गया है ऐसा व्यक्ति उस परम अव्ययपद को पाता है। यहाँ पर भी **'निर्मानमोहः'** कहकर के भगवान ने इस बात का संकेत दिया है कि साधक को मान—सम्मान की प्राप्ति के प्रयत्न में नहीं रहना चाहिये।

साधक का मन जब तक अनात्म वस्तुओं के चिन्तन में जुड़ा है उसे साधना में उन्नति नहीं मिल सकती और न ही मन को शान्ति मिल सकती है। यह अनात्म वस्तुओं का चिन्तन ही 'अविरति' नाम का दोष कहलाता है। इस विघ्न से छूटने का उपाय यह है कि साधक अपने योग के संस्कारों को प्रबल बना ले। उसे योगियों का चरित्र पढ़ना चाहिये इससे मन में प्रेरणा तथा शक्ति मिलती है। गुरूदेव का सत्संग प्राप्त करना चाहिये। गुरू चरण कमलों में साधक का मन असत्य का चिन्तन नहीं करता। वहाँ साधक के मन में वैराग्य के भाव पुष्ट रहा करते हैं। साधक को योग विद्या की महिमा का सदा बोध बना रहना चाहिये। तथा वे अपने लक्ष्य को हमेशा सामने रखें। इसके साथ—साथ साधक को सन्तोष व्रत का भी दृढ़ता के साथ पालन करना चाहिये। सन्तोष व्रत को धारण करने पर कामनाओं का धीरे—धीरे अन्त होने लगता है। और साधक सत्य की खोज में ही आनन्द का अनुभव करता है। 'अविरति' नाम का विघ्न प्रायः सभी साधकों के सामने आया करता है। थोड़े दिन साधना करने के बाद विशेष अनुभव होने पर साधक साधना छोड़ने लगता है। किन्तु उन्हें पतंजलि जी का **'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य'** का सिद्धान्त सामने रखना चाहिये। लम्बे समय तक साधना करने से ही मन एकाग्र होने की स्थिति में आता है। भगवान ने भी **'स निश्चयेन योक्तव्यो योगो अनिर्विण्ण चेतसा'** ऐसा कहकर यह बताया है कि साधक को बिना उकताये साधना में लगे रहना चाहिये। जब किसी क्लिष्ट संस्कार के भुगतान का समय आता है तो साधक दुःख से विचलित होकर साधना से डगमगाने लगता है। किन्तु उस समय साधक को धैर्य से काम लेना चाहिये। किसी भी क्लिष्ट कर्म का भुगतान हमेशा के लिये नहीं रहा

करता, 'इसके भुगतान हो चुकने पर ठीक साधना चल पड़ेगी' ऐसा सोचकर साधक को साधना में लगे रहना चाहिये। गुरुमूर्ति का ध्यान मन में समाहित करने का मुख्य उपाय है। गुरु का रूप **'सर्व देवमयो गुरुः'** के अनुसार सर्व देव मय है। इसलिये वीतरागी सद्गुरु का ध्यान साधक को अवश्य ही उत्थान की ओर ले जाता है।

अतः साधक का यह हमेशा प्रयास बना रहना चाहिये कि उसका मन असत्य वस्तुओं का चिन्तन छोड़कर पारमार्थिक चिन्तन में लगा रहे। हमारा चिन्तन ही हमारे उत्थान और पतन का कारण हुआ करता है। 'अविरति' दोष को हटाने के लिये वेदान्त शास्त्र का अध्ययन एवं मनन भी ठोस उपाय बन जाता है। वेदान्त हमें वैराग्य देता है और योग हमें 'अभ्यास करना सिखाता है। योग–वेदान्त की सामूहिक प्रक्रिया से अभ्यास और वैराग्य ये दोनों साधन बन जाते हैं। योग साधना में हमारी ठीक प्रकार से प्रगति होती है। इसलिये योग साधक को चाहिये कि दुःखों से छूटने के लिये नित्य विचार करता रहे और दुःखों से छूटने का एकमात्र उपाय योग को जानकर इसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न शील रहें।

* * *

विषयों का अनवरत चिन्तन एवं ध्यान विषयों में आसक्ति उत्पन्न करता है, आसक्ति से कामना जाग्रत होती है, कामना पूर्ति में व्यवधान होने से क्रोध प्रकट होता है, क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध नहीं रहता। मूढ़ता से विस्मृति जन्म लेती है अर्थात् हमें आत्मा के सत्य स्वरूप एवं स्वभाव की याद ही नहीं रहती। स्मृति नष्ट होते ही बुद्धि एवं विवेक का विनाश हो जाता है। विकारों तथा आवेगों से प्रभावित बुद्धि, आत्मा की एक शक्ति होते हुए भी, आत्मा के संकेतों को नकारती है तथा मन पर उसका अंकुश समाप्त हो जाता है। बल्कि बुद्धि पूर्णतः मन के अधीन हो जाती है।

किमस्ति योगः

रचनाकार : द्वारका प्रसाद शर्मा, लखनऊ।

'किमस्ति योगः' शीर्षक से लिखी जा रही यह चतुर्दशी (चौदहवीं) श्रृंखला है। इस लेख के अन्तर्गत साधन–पाद के निम्न तीन सूत्रों को लेकर पूर्व की भाँति स्वरचित श्लोकों के साथ उनके नीचे हिन्दी भाषा में भावानुवाद दिया जा रहा है। श्री सद्गुरुदेव की इस अकिञ्चन पर महती कृपा है। मुझ सरीखे अनभिज्ञ की लेखनी से अति दुरूह योगशास्त्र की श्लोकबद्ध व्याख्या कराना उन्हीं के पुनीत चरणारविन्दों का ही सामर्थ्य है। जिन तीन सूत्रों पर आधारित श्लोकों का प्रणयन किया गया है, वे निम्नलिखित है।

(१) सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

(२) आह्लाद परिताप फलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात्।

(३) परिणामताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिनिरोधाच्च सर्वमेव दुःख विवेकिनः।

(१) श्री गुरोश्चरणौ ध्यात्वा, प्रारभे श्रृंखला नवा।
त्रीणि सूत्राणि प्रगृह्य, व्याख्यास्ये प्रभुप्रेरितः॥

अब मैं श्री सद्गुरुदेव के श्री चरणों को ध्यान में रख, प्रभुप्रेरित हो, तीन नये सूत्रों को लेकर इस नई श्रृंखला की व्याख्या करूंगा।

(२) कर्माशये यावद् बद्धमूलाः, तिष्ठन्ति याः काश्चित्कर्मवासनाः।
परिणामतस्ताः फलदा भवन्ति, पुनर्जन्मने, चायुषे भोगहेतवे॥

मनुष्य के कर्माशय में जब तक कर्म की वासना की जड़ बनी रहती है; उसी का परिणाम तीन प्रकार से मनुष्य को भोगना पड़ता है। वे है क्रमशः पुनः जन्म लेकर देह धारण करना, आयु का धारण करना तथा कर्मानुसार भोगों को भोगना।

(२) कर्माशयो वृक्षसमान एव, मूलान्यविद्याजनितास्तु क्लेशाः।
तस्मिन्प्ररोहन्ति फलानि त्रीणि, पुनर्जन्म, चायुस्तथा भोग एव॥

कर्माशय एक वृक्ष के समान है इसके मूल (जड़े) अविद्या (अज्ञान) जनित क्लेश है। इस वृक्ष में तीन फल लगा करते है। पहला पुनर्जन्म, दूसरा आयुलाभ कर उसे भोगना तथा तीसरा कर्मानुसार उदात्त देह में भोगों को भोगते रहना।

(४) तावत त्रयाणां क्रमशः प्ररोहणं, निरन्तर भावि भवेत्तु यावत्।
केनापि निशितेन कुठारकेण, विच्छिन्न मूलं भविता कदाचित्॥

इस वृक्ष में इसी प्रकार इन तीन फलों की क्रमशः उत्पत्ति तब तक होती रहती है, जब तक कि किसी पैनी कुठार या कुल्हाड़ी से उसकी जड़ को काटकर फेंक नहीं दिया जाता है।

(५) **विवेक ख्यातिर्हि समग्रतोऽत्र, छिनन्ति मूलं विटपस्य तस्य।**
नश्यन्ति तेनैव फलानि तानि, सुख दुःख जनितानि न भवन्ति भूयः।

विवेक ख्याति की अवस्था प्राप्त होने पर ही मनुष्य इस वृक्ष के मूल को काटकर अलग कर दिया करता है मूल के नष्ट होते ही सुख दुख जनित उपर्युक्त तीनों फलों की भी इतिश्री अर्थात् अन्त हो जाया करता है।

(६) **परोपकाराय कृतं सुकर्म, पुण्याय भवतीह महर्षिणोक्तम्।**
कामादिदोषैः परपीडनं च यत्, पापाय दुःखाय विभिन्न योनिषु।।

परोपकार के निमित्त सम्पन्न किये गये सत्कर्म, पुण्यार्जन के हेतु बनते हैं और कामादि दोषों से युक्त होकर दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाले दुष्कर्म विभिन्न योनियों में भोग्य पाप व दुःखों के कारण बना करते हैं। ऐसा भगवान् पतञ्जलि देव का कथन है।

(७) **सुखमावहते पुण्यं, दुःखं पापं चिनोति हि।**
स्वीय कर्मानुसारेण, फलं भुङ्क्ते स्वयोनिषु।।

पुण्य कर्मों से सुख का संचय हुआ करता है और पाप कर्मों से मनुष्य दुःखों को बटोरता है। इसी प्रकार पाप पुण्यों के कर्मों से मनुष्य अपने कर्मों के लेखे–जोखे के अनुसार प्राप्त योनियों में कर्मफलों को भोगा करता है।

(८) **सुखंच दुःखं च पृथग्पृथक् वत्, जनः प्राकृतो मन्वते भोगकाले।**
योगी जनो नो मनुते तु तादृक्, सर्वन्तु दुःखप्रदमेव योगिनः।।

एक सामान्य जन सुख को सुख व दुःख को दुःख रूप में मानकर चला करता है। परन्तु योगिजनों की मनःस्थिति इसको ऐसा न मानकर सभी प्रकार के कृत्य–कर्मादि को दुःख रूप ही स्वीकारा करती है।

(९) **सूत्रे नवीने परिभाषितं तत्, दुःखप्रकार च चतुर्विधं यत्।**
परिणाम दुःख मनु तापदुःखं, संस्कार दुःख गुणभेद दुःखम्।।

भगवान पतंजलि देव ने अपने नये सूत्र में चार प्रकार के दुःखों का उल्लेख किया है वे हैं क्रमशः– परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख तथा गुणों के वैषम्य भाव से स्वभावों में पाये जाने वाले गुणवृत्तिभेद दुःख।

(१०) इन्द्रियार्थेषु मनुजो, चेष्टते सुखमरीचिका।
परिणामे प्राप्नुते दुःखं, दुःखं परिणामदुःखजम्॥

मनुष्य ऐन्द्रिक विषयों में मृगमरीचिकावत् सुख पाने की चेष्टा किया करता है परिणामत् वह सुख उसे जब प्राप्त नहीं हुआ करता तो उसे जो दुःख उस कारण होता है उसे परिणाम दुःख भगवान् पतंज्जलि देव ने कहा है।

(११) विषयासक्तमनुजो, रागाद् ग्रस्तो हि जायते।
बाधायां सति रागस्य, द्वेषः संजायते तदा॥

विषयों में आसक्त मनुष्य उन विषयों के प्रति अनुरक्त या रागवान् हो जाया करता है। उसमें यत्किंचित् बाधा या रुकावट आ जाने पर उसे द्वेष हो जाता है।

(१२) रागद्वेषौ तु द्वावेव, दुःखदौ क्लेश कारकौ।
ताप दुःखमतः प्रोक्तं, भगवता श्री महर्षिणा।

उक्त दोनों ही राग और द्वेष दुःख तथा क्लेश को प्रदान करने वाले होते हैं। भगवान् पतंज्जलि देव ने अतः इन दुःखों को ताप दुःख की संज्ञा से अभिहित किया है।

(१३) रागद्वेषाभिभूतो ना, यद्यदाचरति कर्मणि।
शुभाशुभे जन्मनीह, संस्कारांस्तनुते तदा॥

मनुष्य जब रागद्वेष से अभिभूत होकर शुभ अथवा अशुभ जो भी कर्म किया करता है उससे कर्मरूप संस्कारों के जाल का विस्तार ही होता रहता है।

(१४) संस्कारैस्तैः परिवृतो, मनुजो व्यावृतो भवेत्।
आवागमन चक्रेऽस्मिन्, दुःखं संस्कारजं स्मृतम्॥

कर्मरूप संस्कारों से घिरा हुआ मनुष्य आवागमन के इस भवचक्र में फंस जाया करता है। अतः इसे संस्कार दुःख नाम से व्यवहृत किया गया है।

(१५) सत्वं रजस्तम इति, गुणास्त्रय उदीरिताः।
गुणानां कार्यकरणं, गुणवृत्तिस्तु कथ्यते॥

सत्व रजस् व तमस् ये तीन गुण कहे गये हैं। गुणों का कार्य करना ही गुणवृत्ति कहा गया है।

(१६) कदाचित् सत्वमापन्नः, कदाचित् रजसावृतः।
कदाचित् तमसाच्छन्नः, त्रिगुणैः परिभावितः॥

मनुष्य कभी सत्वगुणयुक्त, कभी रजोगुणयुक्त और कभी तमस् गुण से युक्त रहता आया है। इन्हीं तीनों गुणों के न्यूनाधिक्य से उसके स्वभाव में बहुधा परिवर्तन परिलक्षित हुआ करते हैं।

(१७) वैषम्याद्गुणैरे तैः, मनुजो व्यापृतः सदा।
गुणानां व्यतिरेकेण, क्रमादुःखायितो भवेत्।।

इन्हीं तीन गुणों के तारतम्य से मनुष्य दुःखी रहा करता है। अथवा गुणों की वैषम्य स्थिति होने से प्रत्येक प्राणी में स्वभाव की अनुकूलता भी दृष्टिपथ में नहीं आती है।

(१८) युञ्जन्योगी समग्रेषु दुःख पश्यति सर्वतः।
यतः स मनुते सर्वानु, क्लेशान् विषयकर्मजान्।।

एक योगपरायण व्यक्ति सब वस्तुजात में और सर्वत्र दुःखमय होने का आभास करता है। क्योंकि विषयजन्य कर्मों में वह सर्वत्र दुःखोत्पत्ति का पूर्वाभास किये रहता है और वस्तुतः है भी ऐसा ही।

(१९) सुखं सम्प्राप्य योगी ना, विवेकेन समन्वितम्।
सर्वमेव समग्रेण, दुःखं सम्मनुते भृशम्।।

विवेकजन्य सुख को भी प्राप्त कर योगीजन उसमें भी दुःख का ही अनुभव किया करते हैं। कारण, यह कि उनका अन्तिम व एकमेव लक्ष्य तो योग की असम्प्रज्ञात अवस्था हुआ करती है। युक्त जन वही हुआ करते हैं जो निरन्तर निज लक्ष्य की प्राप्ति में सदैव चेष्टावान् तथा चलायमान नहीं होते।

(२०) अतएव समस्तांस्तान्, क्लेशांस्त्यजति योगवित्।
भिन्नो यतस्तु सामान्येन, जनेन सर्वथा यतिः।।

इसीलिये एक योग वेत्ता साधक समस्त प्रकार के क्लेशों का त्याग करता जाता है। एक यतमान साधक योगी प्राकृत व सामान्य जन से व्यवहार में भी सर्वथा भिन्न हुआ करता है।

(२१) श्री श्री गुरूणां कृपया प्रसादितः, यद्यन्म या संलिखितश्च विवृतः।
सर्वन्तु तेषां मुखरी कृतोऽहं, समर्पये तच्चरणारविन्दयोः।।

श्री सद्गुरुदेव की कृपा से मुदित जो कुछ भी मुझ द्वारा लिखा गया या व्याख्यात हुआ है वह सब तो उन्हीं गुरुदेव का है। उन्हीं के द्वारा मैं मुखर हुआ हूँ एतएव मैं यह सब उन्हीं के चरण कमलों में समर्पित करता हूँ। (क्रमशः)

* * *

योगयुक्त जीवन में है सच्चा आनन्द

प्रो. आचार्य चन्द्रहास शर्मा

जीवन की पहचान यह नहीं है कि कोई प्राणी श्वांस–प्रश्वांस लेता है– खाता–पीता और सोता है या धन–वैभव के आगार का स्वामी बना बैठा है। लोहार की भट्टी को गर्म करने वाली खाल भी श्वांस भरती और छोड़ती रहती है। पशु–पक्षी खाते–पीते और सोते हैं। सर्प भी धन के खजाने पर कुण्डलिनी मार कर बैठा रहता है। ऐसा जीवन कोई जीवन है ? पूरी तरह आराम की स्थिति भी जीवन नहीं है ! ऐसा प्रायः उस समय होता है, जब कोई अपाहिज हालत में अस्पताल में भरती होता है। मृत्यु की प्रतीक्षा में जीवित रहना कोई जिन्दगी नहीं है। सच्चा जीवन वह है जिसमें हरक्षण आनन्द, उल्लास, उत्साह, ज्ञान का आलोक, कर्तव्य बोध, आह्लाद, निरालस्यता, तनाव, चिन्ता और भय का लेशमात्र न हो। ऐसी स्थिति ही योग युक्त जीवन है। गत वर्ष एक योग प्रचार कार्यक्रम में जाने का सुअवसर मिला था। वहाँ योगशिविर की समाप्ति पर सत्संगी भाई–बहिनों से योग शिविर के अनुभव सुनाने का आग्रह किया गया। एक बावन वर्ष के सम्भ्रान्त परिवार के सम्पन्न सज्जन ने स्वानुभव सुनाते हुए कहा– "मैं आज कितना खुशनसीब हूं इस अपने मुख से कह नहीं सकता। मेरी उम्र वास्तविक रूप में सिर्फ एक माह ही है, बावन वर्ष तो मैं चलती फिरती लाश मात्र था। नादानी और अज्ञानता में अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को मैंने शराब, मांस, जुआ, व्यभिचार और सोने तथा भोग–विलास में गंवाकर अपनी चादर को मैला बना डाला था। सुबह आठ बजे से पहले सोकर उठने की इच्छा ही नहीं होती थी। शरीर में पचासों तरह के रोग घर कर गये। मैं सोचता था कि अपने धन के बल पर मैं स्वास्थ्य, खुशियां, आनन्द, बड़प्पन और ज्ञान सब कुछ प्राप्त कर सकता हूं। किन्तु योग की जीवन–तत्व क्रियाओं तथा ध्यान योग के गहरे अभ्यास से मेरे अन्दर एक विचित्र अभीप्सा, तड़पन लगन पैदा हो गयी है। सुबह चार बजे नींद खुल जाती है नित्य कर्म से निवृत्त होकर योग मन्दिर की ओर स्वतः कदम बढ़ने लगते हैं। आसन प्राणायाम, जप और ध्यान में ढाई–तीन घण्टे गुजरते हैं। उस समय जो आनन्द मिलता है। उसके सामने संसार की सारी दौलत पाने का सुख भी तुच्छ लगता है। अकेले में अपनी गल्तियों पर रोना आता है। प्रभु की याद में झर–झर आँसू बहने लगते हैं। जितने–जितने आँसू बहते हैं, मन हल्का होता जाता है और हृदय के अन्दर से खुशी का, आनन्द का तथा आह्लाद का स्रोत फूट पड़ता है। सचमुच योग ने मुझे जीना सिखा दिया है मेरी इच्छा है कि मैं योग–विधि से ही अन्त समय में अपने प्राणों की ज्योति को प्रियतम के अन्दर समा दूं। गीता के स्वाध्याय से मेरी समझ में आ गया है, कि **'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं पुरुषमुपैति दिव्यम्'** अर्थात् ॐकार की ध्वनि को नाभि से ऊपर उठाते हुए भौंहों के बीच में लेकर पाँचों प्राणों को ब्रह्म रन्ध्र में लीन करते हुए–ज्योतियों के ज्योति परम प्रकाश पुंज प्रभु के साथ मिलकर मैं जीने के साथ–साथ मरना भी सीख सकूं। मत्स्येन्द्र आसन, सर्पासन शलभासन, धनुरासन, त्रिकोणासन, सर्वांगासन, महामुद्रा तथा अनुलोम–विलोम प्राणायाम एवं भस्त्रिका प्राणायाम से मेरे बहुत समय के साथी अनेक रोग विदा हो गये हैं। रोज नींद की गोलियां खाकर मुश्किल से नींद आती थी। यहाँ योग निद्रा का अभ्यास

करने से मेरी यह स्थिति हो गयी है कि— पलंग पर लेटते ही गहरी नींद का सुख मिल जाता है। जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य स्पष्ट लगने लगा है। मांस–मदिरा तथा विषय–भोगों से मन को उसी तरह नफरत हो गयी है जिस तरह मल–मूत्र से घृणा हो जाती है।"

यह कोई कहानी नहीं है, वास्तविक घटना है। संसार के अधिकांश प्राणी शवतुल्य ही हैं। निरुद्देश्य जीवन यात्रा करते–करते तनाव, भय, रोग और शोक का संग्रह करने के सिवाय और कुछ नहीं कर पाते। पूर्व–पूर्व संस्कार या वासनाओं के कारण सतरजतम इन तीन गुणों का खेल प्रत्येक मनुष्य के जीवन में चलता रहता है। अधिकांश जीवन तमोगुण और रजोगुण के क्रिया–कलापों मे व्यतीत हो जाता है। तमोगुण का आवरण बुद्धि को ढक लेता है जिससे क्या खाना हितकर है, क्या करना उचित है—यह सब विचार करने की सामर्थ्य नहीं हो पाती।

औरों की देखा–देखी हम जीवन यात्रा चलाने लगते हैं जीवन अभिमान से भरा रहता है। हम अपने को कर्ता मानकर सुख–दुःख रूपी फलों के बोझ से भोक्ता भी बन बैठते हैं। जीवन की समग्र तथा स्वस्थ दृष्टि विकसित ही नहीं हो पाती। नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग जिन्दगी का सारा स्वाद बिगाड़ देते हैं। रजोगुण और तमोगुण की प्रबलता के कारण हरक्षण भोगाभिलाषा तरंगित होती रहती है। वासना, अभिमान फलाकांक्षा तथा कामना के कारण जीवन स्थूल तत्व के आवरण से अज्ञान के अंधकार में जीवनभर भटकता रहता है। इस अज्ञान अंधकार के स्थूल आवरण के कारण यह जीव विषयेन्द्रिय के सुख को ही वास्तविक सुखमानकर क्लेश मूलक नये संस्कार तैयार कर लेता है। जिनके परिणामस्वरूप कोल्हू के बैल की तरह जन्म–मरण जरा–व्याधि, दुःख और दोष के चक्कर में अनन्त जन्मों तक घूमता रहता है। जिस घर से वह बिछुड़ा है, उस तक पहुँचने का मार्ग योग के बिना किसी और उपाय से सम्भव नहीं है। प्रत्येक जीव की माँग तो बहुत बड़ी है— आनन्द, तृप्ति, ज्ञान, शक्ति, अमरता और स्वरूपबोध—ये सब उसकी माँग हैं। किन्तु उचित उपाय जाने बिना इनकी उपलब्धि नहीं हो पाती। स्थूल आवरण और मलों को शुद्ध किये बिना शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चित्त में पवित्र तथा सूक्ष्मता नहीं आती। जब तक वासना, कामनाओं और फलासक्ति का उच्छेद नहीं होता तब तक मन में एकाग्रता नहीं आपाती स्थूल आवरण के रहते सूक्ष्म मार्ग में प्रवेश असम्भव है।

योग के विभिन्न अंगों का अभ्यास करने से मल आवरण और विक्षेपों का अच्छेद हो जाता है। पंच महाभूतों से यह शरीर बना है उनकी पंच तन्मात्राओं से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा मन बना है जब तक पंचभूतों की शुद्धि नहीं होती तब तक चित्त शुद्ध नहीं होता। जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक अपने जीवन का ठीक–ठीक उद्देश्य भी निश्चित नहीं होता।

योग का लक्ष्य जीवन को पवित्र और शुद्ध बनाकर इन्द्रियों तथा मन बुद्धि को एकाग्र और प्रसन्नता से भरकर परमपिता के समक्ष रुबरू होना है। योग की शब्दावली में इसे 'समाधि' कहा जाता है। महर्षि व्यास देव जी महाराज ने **'योग:समाधि:'** ऐसा योग का निर्वचन किया है। आगे समाधि का अर्थ बताया है— **'समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनो:।'** अर्थात् अल्पज्ञ जीवात्मा तथा सर्वज्ञ परमात्मा में परस्पर मित्रता

होना, रूबरू होना, समता, सामरस्यक समान धर्मिता होना समाधि है। योग का उद्देश्य जीवन को उपासना प्रधान बनाना है। बिना उपासना के वासना और कामना प्रधान बनाना है। बिना उपासना के वासना और कामना का समूलोच्छेद नहीं होता। उपासना के द्वारा जीव और ईश्वर में तादात्म्य और साम्मुख्य प्राप्त होता है। संत तुलसी इस साम्मुख्य का फल बताते हैं–

सम्मुख होय जीव मोहि जवहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तब हीं।।

बिना योग के केवल ज्ञान या केवल भक्ति से यह सम्मुखी करण प्रक्रिया सम्पन नहीं होती। इसलिए योग सर्वधर्मों का सार तत्व है। यह विज्ञानों का भी विज्ञान है। यह जीवन का परम पुरुषार्थ है। जब सिद्धों की कृपा प्राप्त होती है, तभी योग का वास्तविक तत्व प्राप्त होता है। जब तक सुषुम्ना नाड़ी में प्राण की गति नहीं होती तब तक अन्य सारी क्रियायें बाह्य व्यायाम और मल शोधन के उपाय मात्र हैं। अन्दर की दैवीशक्ति जब उपासना द्वारा क्रियाशील हो जाती है तब वही जीवन यात्रा को सही दिशा में ले चलती है। जीव का कर्तव्याभिमान तब स्वतः नष्ट हो जाता है। जैसे नौका को नदी की धारा के प्रवाह में डाल देने पर उसके वेग से नौका स्वतः गतिशील हो जाती है, चलानी नहीं पड़ती। इसी प्रकार तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान के क्रियायोग के वेग से जीव आनन्द सागर में मछली बन जाता है। '**सुखी मीन जहं नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एको बाधा।**' जीवन की सारी जलन, तपन, कुण्ठायें, तनाव, चिन्तायें व्याधियां, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान से कम होते होते समाप्त हो जाती है। पातंजल योग दर्शन में महर्षि पतंजलि ने क्रियायोग के अनुष्ठान का परिणाम बतलाया है–'**समाधिभावनार्थः क्लेशतन्– करणार्थश्च।**' अर्थात् समाधि की सिद्धि और अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष तथा अभिनिवेश रूप पंच क्लेशों को कमजोर करने में क्रियायोग प्रभावी होता है।

शरीर को नीरोग, इन्द्रियों को शुद्ध पवित्र, मन को एकाग्र, बुद्धि को स्थिर चित्त को निर्लिप्त तथा ईश्वर को प्रत्यक्षीकरण करने का अमोघ उपाय योग है। नेति, धौति, नौली, वस्ति, त्राटक, कपाल भाति आदि षट्कर्मों से शरीर और मन के मलों का शोधन हो जाता है। पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि आसनों से शरीर में दृढ़ता और नीरोगता आती है। महामुद्रा, योग मुद्रा, शाम्भवी, चिन्मुद्रा आदि मुद्राओं से अभ्यास में स्थिरता आती है। ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय निग्रह से सन्तोष तथा धैर्य तथा मन की स्थिरता आती है। प्राणायाम द्वारा शरीर और मन शक्तियों का भण्डार बनता है। जप और ध्यान से इष्ट का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। समाधि से समस्त विषय वासनाओं से निर्विकारता और निर्लिप्ता प्राप्त होती है। इस प्रकार योगमय जीवन् से संस्कार शुद्धि से लेकर बुद्धि, मन, इन्द्रिय तक सभी की पूर्ण शुद्धि हो जाती है। महर्षि पतंजलि ने इस शुद्धि का ही परिणाम आत्म साक्षात्कार बताया है –**सत्वशुद्धि सौमनस्यैका ग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानिच।**' योगदर्शन २/४१ अर्थात सत्वगुण प्रधान बुद्धि की शुद्धि से मन चिन्ता तथा तनाव रहित सौमन्सस्थिति में प्रसन्न रहता है। जिससे एकाग्रता, इन्द्रिय जय और इन सबके फलस्वरूप आत्मा दर्शन (जीवन लक्ष्य) प्राप्त करने की योग्यता आती है। योग मनुष्य को जीवन जीने के योग्य बनाता है। योगमय जीवन से आत्मबल, संकल्प शक्ति स्वावलम्बन, पर्यावरण सुरक्षा की भावना, मैत्री, करूणा, दया की वृद्धि आदि दैवी सम्पत्ति का विकास होता है।

* * *

भारतीय कला पर सिद्धयोग का प्रभाव

राजकिशोरी सिंह

हमारे सांस्कृतिक एवं सामाजिक संस्कारों के सतत् अभ्युदय में सिद्ध एवं संत परम्परा का महती योगदान रहा है। भारतीय कला भी सतत् अनुप्राणित एवं प्रसादित हुई है यद्यपि सिद्धमार्ग अब तक एक गुढ़ एवं रहस्यमय विषय रहा है, फिर भी निहतार्थ सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय ही है। योगी अपने एकाग्र चित्त में सद्भूत अर्थ को प्रकट कर लेता है। भारतीय कला के इतिहासकारों ने यद्यपि यह स्वीकार किया है कि भारतीय संस्कृति में कला का तात्पर्य केवल मनोविनोद या भोगविलास ही न था, अपितु तत्ववाद, अध्यात्मवाद की स्थापना जनसामान्य में करना ही प्रधान लक्ष्य रहा है। परन्तु व समुचित रूप से भारतीय कला में योग एवं तंत्र आदि के प्रभाव को अब तक प्रकट नहीं कर सके है।

वाराणसी में योगीराज सद्गुरू श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के समक्ष जब एक चित्रकार ने अपने चित्त को एकाग्र करने का साधन पूछा तो श्री प्रभुजी ने कहा की तुम्हें जो भी देवी–देवता प्रिय लगते हों उनमें से किसी एक का चित्र नैरन्तर से लगभग सौ चित्र भावपूर्ण बनाओ ऐसा करते–करते उस स्वरूप की धारणा तुम्हारे चित् में हो जायेगी। फिर नेत्र बन्द करके धारणामयी मानस कल्पित चित्र को देखते–देखते तदाकारता दो– तीन माह में हो जायेगी। यह ध्यान की स्थिति होगी। अब तुम्हें दीखेगा कि वह कल्पित चित्र जीवन्तता को प्राप्त हो रही है। चित्र भाव समाप्त होकर अन्तर जगत् में सम्प्रज्ञात ज्योति के अन्तर्गत वे इष्ट साकार होने लगेंगें। ऐसी मन: अवस्था की परिपक्वता में इष्ट द्वारा सम्भाषण निर्देशन तथा वरदान भी प्राप्त होते है। यह सब समझाते हुए श्री प्रभु जी ने कहा कि चित्रकला शिल्पकला सभी सम्प्रज्ञात ज्योति के प्रसाद स्वरूप हैं। योगी धारणा, ध्यान, समाधि के बल से चौदहों भूवन का साक्षात्कार करता है। देखो भगवान पातंजलि ने 'विभूतिपाद' में **''भूवनज्ञानं सूर्ये संयमात्''**। वि.पा. २६ अर्थात् भूवः स्व आदि भूवनो का पूर्ण ज्ञान सूर्य में चित् के संयम द्वारा योगी को ज्ञात हो जाता है। इन लोकों में रहने वाले देव, गंधर्व किन्नर, किमपुरुष, यक्ष अप्सराएँ, ब्रह्मराक्षस, कुश्माण्ड, विनायक नाम वाले देव योनि विशेष इन लोकों के वासी हैं जहाँ देव उद्यान, चैत्र रथ वन, सुधर्मा नामक देवसभा, सुदर्शन नामक पुर, वैजयन्त नामक प्रसाद यह सब पूर्वोक्त भू–लोक में बताया गया हैं। इन्हीं सब साक्षात्कारों का सम्प्रेषण और उसकी स्थूल अभिव्यक्ति भारतीय कला का गहन विषय रहा है।

अत: अपने अनुभूत असत्य की अभिव्यक्ति मनुष्य का स्वभाव है। यह अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से होती है। अभिव्यक्ति या अभिव्यजना के विविध प्रकार ही कला कहलाते हैं। कला वह अभिव्यक्ति है जिसमें मन की ज्ञान भावना और इच्छा अथवा ज्ञान इच्छा और प्रयत्न इन तीनों वृत्तियों का सामंजस्य रहता हैं पूर्व में कला को असाधारण, सूक्ष्म तथा अलौकिक अनुभूति माना गया है, जिसका जन्म मानव की सौन्दर्यमयी

वृत्ति से होता है। भारत में तो कला को प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक धार्मिक तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्र सूत्र में कला का उद्देश्य इस प्रकार बताया गया है—

''कलानां प्रवरं चित्रं धर्मकामार्थमोक्षदम्।
मगल्यं प्रथमं चैतद्गृहे यत्र प्रतिष्ठितम्।।''

प्राचीन भारतीय जीवन की धारा प्रवाह में एक विशेष परम्परा पायी जाती है, जिसके पीछे आध्यात्मिक एवं यौगिक दर्शन का दृष्टान्त दृष्टिगोचर होता है। भारतीय साधना के प्रत्येक क्षेत्र में योग का स्थान सर्वोच्च है। योग का प्राचीन भारतीय कला पर भी गहरा प्रभाव है। क्योंकि ध्यानमग्न योगी अपनी ध्यानावस्था में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड देवी–देवता के दर्शन दिव्य रंगों व नादों तथा मुद्राओं का साक्षात्कार तो कर सकता था, परन्तु सम्पूर्ण समाज योगी हो नहीं सकता था। अत: योगियों एवं तपस्वियों के द्वारा बताए गए मार्ग का ही सम्पूर्ण समाज अनुसरण करता था। आज हम जिन देवी–देवताओं की मूर्तियों को देखते हैं वह प्राचीन काल में योगियों व ऋषियों द्वारा अपनी ध्यानावस्था में देखे गए रूपों का ही वर्णन है।

प्राचीन काल में कलाकारों को योगियों के समान ही यम–नियम का पालन करना पड़ता था जो कि भारतीय कलाओं में परिलक्षित होता है। भारतीय कलाकारों ने अपनी कलात्मक सौन्दर्य दृष्टि की अभिव्यक्ति आध्यात्मिक रूप से ही की है, यथार्थवादी रूप से नहीं। 'शुक्राचार्य' ने स्पष्ट रूप से लिखा है– ''कलाकारों के लिए देवी देवताओं के चित्र खींचना सदैव ही श्रेयस्कर है। मानव आकृतियाँ बनाना गलत है।'' ''शंकराचार्य'' के अनुसार **''ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या''** अर्थात् ''ब्रह्म ही सत्य है बाकी समस्त संसार झूठा है'' इसी दृष्टान्त को ध्यान में रखकर ही प्राचीन काल के कलाकारों ने अपनी कृतियों में शरीर के बाह्य सौन्दर्य के निरूपण की अपेक्षा आत्मा के सौन्दर्य (आन्तरिक) पर ज्यादा ध्यान दिया है। इसका उत्तम दृष्टान्त भारतीय चित्रकारों व मूर्तिकारों ने गौतम बुद्ध को तपस्या के उपरान्त वाले चित्रों या मूर्तियों में जर्जर व क्षत विक्षत् शरीर न दिखा कर अत्यन्त तेजस्वी निरूपति किया है। क्योंकि यह योगियों व ऋषियों द्वारा बताया गया है कि सौन्दर्य क्षण–भंगुर काया में नहीं वरन् शाश्वत आत्मा में है उसी की प्रतिध्वनि भारतीय कला में भी दिखायी पड़ती है।

भारतीय कलाओं का जन्म धर्म के साथ हुआ है और हर धर्म ने अपनी धार्मिक मान्यताओं को कला के माध्यम से ही जन–समूह तक पहुँचाया है। भारतीय कला एवं शिल्प में सांसारिक सादृश्य या बाहरी समानता का महत्त्व नहीं है, बल्कि मनुष्य के अन्त:करण को गहराई से दिखाने पर अधिक बल है। अपनी गहन भावना या अन्त:करण की छवि को कलाकार ने योगी के समान प्रस्तुत किया है।

जिस प्रकार योगी ध्यान की अवस्था में बाहरी तथा आन्तरिक प्रकृति तथा प्रकृति के विस्तीर्ण क्षेत्र का एक ही स्थान पर बैठकर साक्षात्कार कर लेता है उसी प्रकार प्राचीन भारतीय कलाकार ने भी एक स्थान से अनेक कालों एवं स्थानों अथवा क्षेत्रों की विशालता को एक साथ ही अपने चित्रों में अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार की योग साधना द्वारा चित्र निरूपण के अनेक उदाहरण महाभारत व रामायण में मिलते हैं। इस प्रकार का एक दृष्टान्त महाभारत में ऊषा व अनिरूद्ध की सुन्दर प्रेम कथा के प्रसंग में चित्रकला का उल्लेख

आया है। एक रात राजकुमारी ऊषा ने स्वप्न में एक सुन्दर युवक को देखा। प्रातः जागकर ऊषा ने उस युवक के बारे में अपनी सखी चित्रलेखा को बताया जो तमाम कलाओं में निपुण थी। चित्रलेखा ने ऊषा द्वारा बताये गये युवक को चित्रित किया। उसने ध्यानावस्थित होकर समस्त देवताओं व युवराजों के छविचित्र स्मृति के आधार पर बना कर ऊषा के सामने प्रस्तुत किए। ऊषा ने स्वप्न में देखें हुए राजकुमार को पहचान लिया। इस प्रकार यह निश्चित तौर से कहा जा सकता है कि चित्रलेखा ने योग बल द्वारा समस्त युवराजों और देवताओं का सूक्ष्मशरीर से जाकर दर्शन किया होगा। अतः योग व ध्यान का भारतीय कला पर गहरा प्रभाव पड़ा।

भारतीय कलाओं का जन्म चक्षु की अपेक्षा मन या आत्मा के धरातल से होता है, इसी कारण उसे सांसारिक यथार्थ की अपेक्षा आत्मा की पवित्रता से अनुप्राणित आदर्श रूप अधिक हैं। भारतीय चित्रकार ने यथार्थ में जैसा देखा वैसा ही उसे निरूपित नहीं किया, बल्कि उसे जैसा होना चाहिए वैसा चित्रित किया, प्राचीन कलाकारों ने कला में सत्य, शिव एवं सुन्दर रूप को ही अपनाया है। इस प्रकार के रूप अंजता, ऐलोरा बाघ, बादमी की गुफाओं व महाबली पुरम, कोणार्क की मूर्तियों में देखने को मिलते हैं। शिव का नटराज रूप सृष्टि के पालन व विनाश का रूप है।

चित्र छवियों के माध्यम से सात्विक वृत्ति का प्रसार सम्पूर्ण समाज में शीघ्रता से प्रभवी हो सकता है। अतः निर्विवाद रूप से मान्य है कि कला के द्वारा अध्यात्तरिक एकाग्रता की उपलब्धि तथा योगानुभूतियों द्वारा सृजित कला–कौशल सदैव साधना द्वारा ही सिद्ध हुआ है।

* * *

भगवान की कथा में श्रद्धा करे, भगवान की प्रतिमा की पूजा करे, भगवान का स्मरण करे, भगवान के ही चरण कमलों में सिर झुकावे, भगवान को ही संसार में सबसे बड़ा साथी माने, भगवान का ही सेवक बने और भगवान के ही चरण कमलों में सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर दे। जो पुरुष इस प्रकार भगवान की भक्ति करते हैं, वे इस असार संसार के बंधन से मुक्त होकर परमपाद पाते हैं।

प्रेरक वचन

डा० विजय सिंह

किसी संत का कथन है, भगवान को पाना कठिन नहीं है। सद्गुरु पाना ही कठिन है। इस दृष्टि से यदि हम सिद्ध–योग के सभी साधक विचार करें तो देखेंगे कि पूर्व जन्मों का कैसा पुण्य प्रताप रहा है कि परम सद्गुरु का सानिध्य हमें मिला हुआ है। सद्गुरू भगवान कहा करते थे कि तुम संकट में अपने को क्यों दीन हीन समझने लगते हो। सद्गुरू तीर संधान करके तैयार रहते हैं, तुम्हारे ऊपर के पहाड़ गिरना हो तो उसे वे रुई के गोले में बदल देते हैं। फिर तुम्हें अपने घराने का भी ख्याल करना चाहिए। आनन्दकन्द श्री महाप्रभुजी (श्री रामलाल जी महाराज) तथा त्रिशूल लिए हरदम तैयार नैपाल पति भगवान सदाशिव तुम्हारे साथ सदैव ही हैं। तुम सभी उनके चरणकमलों का अनन्य भाव से चिन्तन करते रहा करो। अपने गुरू मंत्र का उठते–बैठते चलते फिरते जाप करते रहा करो।

सद्गुरु से छल नहीं किया जा सकता। वे दीक्षा काल में ही अपना एक चित (निर्मापित) शिष्य में आरोपित कर देते हैं। ज्यों–ज्यों साधक सद्गुरु चरणानुरक्त एवं साधना भूमिकाओं में अग्रसर होता है उसका अपना क्षुद्र आपा सद्गुरु रूप में तदाकार होता जाता है। सद्गुरू को भगवान से भी बढ़कर जानना और पूजा करना चाहिए। यही वास्तविक पूजा है। सद्गुरू का सारूप्य लाभ होने पर भगवान का सारूप्यलाभ होता है। सद्गुरू के चरण शरण ग्रहण करने के बाद चिन्ता कैसी ? शक्तिपात प्राप्त शिष्य को निश्चित ब्रह्मत्व प्राप्त होगा। साधक को अपने सद्गुरू में पूर्ण श्रद्धा व विश्वास ही रखना साधना है। अतः मूलतः सद्गुरू की प्राप्ति ही अध्यात्म राज में प्रवेश पाने की कुंजी है।

योगिराज कुलानन्द का विचार है कि श्वांस–प्रश्वास में जप करने से ही शरीर सात्विक बनता है। क्योंकि विशुद्ध आध्यात्मिक शरीर अजपा जप से ही बोधगम्य होता है। श्वांस–प्रश्वास का कार्य शरीर के प्रत्येक परमाणु में हो रहा है। जब मंत्र श्वासों में गुंथ जावेगा तो शरीर का कण–कण मंत्रमय हो उठेगा। सच तो यह है कि सिद्ध सद्गुरू का सहारा पाने पर कर्म अपने आप समाप्त हो जाता है। जैसे आग के ऊपर काफी लकड़ी लाद देने पर धुआं ही धुआं होता है। शक्तिपात की अमर आग सम्पूर्ण कर्म संस्कारों की लकड़ी को धीरे–धीरे जलाती रहती है। यदि तीव्र साधना हो तो भक् से जल उठती है। अन्यथा धुआं होते होते भी कालान्तर में एकाएक प्रकाश होना ही है। तथा कर्माशय का समूलोन्मूलन हो जाता है। गुरूशक्ति अपने आप कार्य करती है।

कुछ साधक योगेश्वर्य को प्राप्त करने के चक्कर में रहते हैं। संत विजय कृष्ण गोस्वामी जी ने कहा है—सिद्धि क्या ? थोड़ी शक्ति प्राप्त करने को सिद्धि समझते हो ? षड़ैश्वर्य तुच्छ विषय है साधक को प्रथमतः इसके प्रति आसक्ति नहीं रखना चाहिए। जिस अध्यवसायसे साधन कर रहे हो, उससे ऐश्वर्य प्राप्त होता ही है। परन्तु इसे अनुभव करने के लिये तुम्हें कम से कम एक साल वीर्य धारण कर सत्य वाक्, सद्चिंतन और सद्व्यवहार करना चाहिए। परन्तु इसे सिद्धि नहीं कहते। जब शरीर के कण–कण से मंत्र का प्रकाश होने

लगे तब समझना सही सिद्धि प्राप्त हुई है। ऐसी अवस्था में साधक निर्लोभी होता है।

भारत के प्रसिद्ध योगी तैलंग जी ने साधकों के हितार्थ समय–समय पर जो सुझाव दिये हैं उनमें मितभाषी होना बताया है। साधक को दुनियावी कामों के लिए जितना बोलना आवश्यक हो उतनी ही बात करना चाहिए। बेकार की बातें, गप्पबाजी में समय शक्ति दोनों का ह्रास होता है जिससे जप द्वारा अर्जित तेज क्षय होता है। उनका कहना है, व्याकुल भाव से जो ईश्वर को पुकारेगा, उसे दर्शन अवश्य होगा। मानव की सृष्टि केवल आहार–विहार के लिए नहीं हुई है। भगवान में जो–जो शक्तियां हैं, मनुष्य में भी ठीक वही शक्तियां हैं। सिद्ध योगी दीक्षा लेने वाले शिष्य की योग्यता को अपनी अन्तर दृष्टि से पहचान लेते हैं। फिर **"जाकी जैसी चाकरी ताको तैसी देत"**। स्वामी तैलंग जी का कथन है– सिद्धों के प्रभाव से मिट्टी, धातु तथा पाषाण में भी आत्मा का, चैतन्य का संचार होता है।

श्री गुरूदेव भगवान कभी किसी से कह रहे थे कि लल्ला ! श्री प्रभुजी की कृपा से, मुझे शिष्य को दीक्षा देते उसके दसियों जन्म के कर्म आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाते हैं। श्री सद्गुरू द्वारा प्रदत्त श्री महाप्रभु जी का एवं श्री सद्गुरु भगवान के स्वरूप चित्र जो हमारे घरों में विराजमान हैं, वे पूर्ण कृतार्थ करने वाले है। वे मात्र फ्रेम किये हुये फोटो नहीं हैं। इन स्वरूपों को देखकर कांचीकोटि के श्री शंकराचार्य जी ने कहा था– इस स्वरूप में एक साथ हजार व्यक्तियों को मोक्ष प्रदान करने का सामर्थ है।

बिना सद्गुरू की आज्ञा के दीक्षा देना महापाप है। क्योंकि शिष्यों को जो आदेश दिया जाता है, उसका वे पालन नहीं करते तब उसके कार्यों को गुरूदेव पूरा करते हैं। इससे गुरूसेवा की जगह गुरू को कष्ट देने का भागी शिष्य बनता है। यह बात दूसरी है कि अहैतुक कृपा करने वाले गुरूदेव शिष्य के हित का ध्यान रखते हैं।

इसलिये हम लोगों को श्री प्रभुजी बार–बार चेतावनी देते रहे हैं कि तुम सभी जब तक शरीर है मंत्र एवं ध्यान का अभ्यास करते रहा करो। एकाग्रता योग–राज्य का द्वार है। सद्गुरू भक्ति को प्राप्त होता है। श्रद्धा से सहज एकाग्रता तथा मन की चंचलता नष्ट होती है और चित्त शुद्ध होता है। श्रद्धा सर्व विद्या का मूल है। एक बात और विचार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक शिष्य के लिए उसका निश्चित गुरू होता है। वही दीक्षा देने के अधिकारी होते हैं।

ध्यान लगाने का सहज उपाय क्या है ? इस विषय पर महापुरूषों ने अपने अनुभव प्रकाशित किये हुये हैं– साधक को अपने सद्गुरू के स्वरूप को लोकोपचार विधि से पूजन करके स्वरूप के सामने आसनस्थ होकर बैठना चाहिए। फिर खुली आँखों से स्वरूप के शीर्ष से क्रमशः एक–एक भागों का अवलोकन करते हुए चरण नख तक दृष्टि को धीरे–धीरे ले जाना चाहिए। यह प्रक्रिया पुनः–पुनः ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर दसियों बार करना चाहिए। फिर नेत्र बन्द करके स्वरूप का मानस पूजन करना चाहिए। ऐसा करने से तथा मंत्र के अत्यधिक जाप के प्रभाव से कुछ ही दिनों में प्रगाढ़ ध्यान स्थिति हो जाती है।

* * *

भक्तियोग की पराकाष्ठा का दिव्य विवेचन

–डा० स्वामी केशवाचार्य

जीव गर्भ परम्परा में फंस कर अनेक प्रकार के कष्ट भोगता हुआ चला आ रहा है। जो साधक इन कष्टों को नष्ट करना चाहते हैं वे ही मोक्ष के साधक भक्ति योग में या प्रपति योग में प्रवृत्त होते हैं। भक्तियोग से भक्ति की वृद्धि होती है। जो लोग भक्ति योग साधन करने में असमर्थ होते हैं वे प्रपत्ति योग में प्रवृत्ति होते हैं। ये भक्त और प्रपन्न दोनों प्रकार के भक्त निश्चय पूर्वक विश्वास रखते हैं कि एकमात्र भगवान ही हमें सब प्रकार के हितों को प्रदान करेंगे। इस निश्चय पर दृढ़ रहते हुए भगवान की कृपा की प्रतिक्षा करते रहते हैं। अर्थात् परिपूर्ण विवेक निर्वेद वैराग्य और भय को प्राप्त होने के बाद जीव निरन्तर संसार से मुक्त होने का उपाय सोचता रहता है। तब "भजमाम्" इस सूक्ति के अनुसार भक्ति योग और "मामेकं शरणं व्रज" इस सूक्ति से प्रपत्तियोग (शरणागति) का पूर्ण संकेत पाकर जीव यथारुचि यथाशक्ति भक्ति योग या प्रपत्ति योग में प्रवृत्ति होता है।

भक्ति योग भी ज्ञान योग और कर्मयोग की अपेक्षा रखता है। क्योंकि ज्ञान योग और कर्म योग के बाद ही भक्ति योग की उत्पत्ति होती है। अर्थात निष्काम भाव से कर्मों के बाद ही उसकी उत्पत्ति होती है। निष्काम भाव से कर्मों का अनुष्ठान करना ही कर्मयोग है और जीवात्मा के परिशुद्ध स्वरूप का निरन्तर स्मरण करना ही ज्ञानयोग है। कर्मयोग से चित्त शुद्ध होता है, और ज्ञानयोग से परिशुद्ध जीवात्मा स्वरूप का साक्षात्कार होता है। तथा उसी समय जीवात्मा को विदित हो जाता है, कि मैं परमात्मा (भगवान) का परतन्त्र दास हूं। प्रकृति से विलक्षण और ज्ञानानन्द स्वरूप हूं। इस प्रकार स्वस्वरूप का विशद रूप से साक्षात्कार होते ही भगवान के विषय में भक्तियोग की भागीरथी प्रवाहित हो जाती है और अंकुरित भक्तियोग वर्णाश्रम धर्मों के अनुष्ठान से बढ़ने लगता है। इसलिए वर्णाश्रम धर्म एवं शम दमादि भी भक्तियोग के अंग हैं। साथ ही आधायक है। तैल धारा के समान अविच्छिन्न प्रेममय स्मृतियों की धारा ही भक्तियोग है। यही भगवान की प्रसन्नता का हेतु है। अतएव कहा गया है कि–

"भक्ति प्रियो माधव:"॥

पूज्यपाद जगद्गुरू श्री स्वामी रामानुजाचार्य जी ने भक्तियोग के साथ ज्ञान योग और कर्मयोग की घनिष्ठता एवं अनिवार्यता को देखते हुए लिखा है कि –**"ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम्"**॥

महर्षि बोधायन ने भक्तियोग ध्रुवास्मृति की निष्पत्ति विवेकादि से मानी है। वाक्यकार के शब्दों में ही– **"तल्लब्धि: विवेकाविमोकाभ्यास क्रिया कल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्य: सम्भवानिर्वच नाच्च"**। इन सप्तविध नियमों से युक्त ही पुरुष वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार निर्धारित कर्मानुष्ठान द्वारा ही विद्या–भक्तियोग की सिद्धि कर सकता है।

जाति आश्रम और निमित्त से अदृष्ट अन्न के द्वारा निष्पन्न शरीर शुद्धि को विवेक कहते हैं। संसार से विरक्त होकर ईश्वर के प्रति जो प्रबल उत्कंण्ठा उसी को विमोक कहते हैं। ईश्वर रूप का जो सतत् अनुशीलन या चिन्तन हो उसी को अभ्यास कहते हैं। योगाद्यनुष्ठान ही क्रिया है। सत्य आर्जव दया दान अहिंसा रूप सद्‌गुणों को कल्याण कहते हैं। देश–काल वैगुण्य और दुःख प्रद वस्तुओं के स्मरण से उत्पन्न जो दैन्य या अभास्वरत्व उसी को अवसाद कहते हैं। इसके विरुद्ध होना ही अनवसाद है। तुष्टिरूप उद्धर्ष का विपरीतार्थ अनुद्धर्ष कहा जाता है। यही विवेकादि सप्त विध नियम हैं।

अपने–अपने कर्मों के फलस्वरूप ८४ लक्ष योनियों में भ्रमण करने के बाद अनेक जन्मार्जित पुण्य के प्रभाव तथा श्री भगवान की निर्हेतुक कृपा से मानव देह की प्राप्ति होती है और वह इसलिए कि अब इसके बाद जीव को पुनः ८४ लक्ष योनियों की परिक्रमा न करनी पड़े। अपितु अपने ही सुकृतों द्वारा चतुवर्ग का साधन कर लेना चाहिये। इसी में मानव देह प्राप्ति की सार्थकता है अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष यह चतुवर्ग या पुरुषार्थ चातुष्ट्य हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ मोक्ष है जिसकी प्राप्ति का उपाय एक मात्र भगवद्‌भक्ति योग ही है। जैसा कि श्री वैदान्त देशिक स्वामी जी ने अपने तत्वमुक्ता कलाप में कहा है कि– **''भक्तिर्मुक्तेरुपायः श्रुतिशत विहितः''**। इत्यादि। यह भक्तियोग भी ज्ञानयोग और कर्मयोग की अपेक्षा रखता है। अतः भक्तियोग की सिद्धि के लिए निष्काम भाव से वर्णाश्रम युक्त कर्मानुष्ठान करना आवश्यक है। यद्यपि– **''ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'' ''तरति शोक मात्मवित''** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार ज्ञान, ध्यान, मुक्ति के समान ही फलप्रद बतलाए गये हैं। तथापि समान प्रकरण में पठित होने के कारण सामान्योक्ति है। अतः इस सबका तात्पर्य भक्तियोग विशेष में ही पर्यावसित होता है। इस बात का निश्चय कर साधक निरन्तर भक्तियोग पथ का पथिक बनने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

''भजनं भक्ति''। **''भज्यतेऽनयेतिवा भक्तिः**। **''भजति अनयेतिवा भक्तिः''**। इन व्युत्पत्तियों के अनुसार भज सेवायाम् धातु से ''क्तिन्'' प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ है– सेवा–जो पात्र भेद से तीन रूपों में परिणत होता है। अर्थात् अपने से उत्कृष्ट में भक्ति और अपने समान में प्रेम तथा अपने से लघु में कृपा कही जाती है। अतःभगवद्विषयक प्रेम को ही भगवद्‌भक्ति कहते हैं। जिसका स्वरूप आचार्यों ने अनेक प्रकार से बतलाया है। **''द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविल्पकवृत्तिं– ''भक्तियोगः''**॥

श्री नारद भक्तिसूत्र में भी–भगवद्‌भाव से द्रवित होकर भगवान के साथ चित्त के सविकल्पक तदाकार भाव को भक्तियोग कहते हैं।

''द्रुतस्यभगवद्धर्मा धारावाहिकतां गता।
सर्वेशो मनसो वृत्तिभक्तिरित्यभिधीयते॥

भगवद्‌गुणों के श्रवण से प्रवाहित होने वाली धारावाहिक मनोवृत्ति को ही भक्तियोग कहते हैं। देवर्षि नारद

जी ने भी भक्ति योग का लक्षण इस प्रकार किया है कि–

"सात्वस्मिन् परमप्रेमा अमृत स्वरूपा च्"।।

परमात्मा के प्रति होने वाले परम (उत्कृष्ट) प्रेम को ही भक्ति योग कहते हैं। (नारद भक्ति सूत्र)। महर्षि शाण्डिल्य ने भी भक्तियोग का लक्षण निम्नलिखित रूप से किया है–

"सा तु परानुरक्तिरीश्वरे"।। (शाण्डिल्य भक्तिसूत्र)

ईश्वर विषयक जो परमानुराग है उसी को भक्ति योग कहते हैं। उक्त लक्षणों में से सबका तात्पर्य भक्ति योग के रसायन के लक्षण में ही पर्यवसित होता है। जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित रूप से समझना चाहिये।

लोक में देखा जाता है कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति नीचे पारा रखकर उसके उपर लाख रख देवे और मध्य में आग जला देवे, तब लाख पिघल कर पारे में उतर आता है। और लाख तथा पारे का रंग मिल कर एक हो जाता हैं तदनन्तर कोई चाहे हजार उपाय करे किन्तु लाख का रंग पारे से अलग नहीं हो पाता है। इसी प्रकार जब ध्याता (साधक) अपने ध्येय (इष्टदेव) में ध्यान रूपी आँच लगाता है। तब ध्येय (इष्टदेव) लाख के रंग के समान पारा सदृश ध्याता के हृदय में उतर जाता है। तत्काल चाहे कोई लाख उपाय करे, किन्तु ध्येय ध्याता के हृदय से कभी अलग नहीं हो पाता है। इसलिए भी सूरदास जी ने बड़े ओजस्वी शब्दों में कहा है कि–

"हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलादिति किमद्भुतम्
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणपामि ते।।"

"बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानकर मोहि।
हृदय से जब जाओगे मर्द सराहों तोहि।।"

सारांश यह कि **ध्याता, ध्येय** और **ध्यान** की जो अभिभाज्य (त्रिपुटी) है उसी को **समाधि** या **भक्ति योग** कहते हैं। लोक में इसका उदाहरण श्रृंगार–रस में मिलता–जुलता है–

श्रृंगार–रस में विभाव अनुभाव संचारी रस भाव की परिपक्व अवस्था पन जो स्थायीभाव वही सहृदयों के हृदय में रस रूप में परिणत हो जाता है। अर्थात् श्रृंगार रस जब आलम्बन विभाव–नायक नायिका परस्पर एक दूसरे के दृष्टिगोचर होते हैं, और चन्द्र–चन्दन रोलम्ब (भ्रमर पंक्ति) उद्दीपन करते हैं तथा परस्पर कटाक्ष विक्षेपादि रूप अनुभव होने लगते है। कुछ काल के बाद परस्पर में इतनी अधिक तल्लीनता बढ़ जाती है कि नायक–नायिका को अपने दो से अतिरिक्त सारा संसार नहीं दीखता है, और उसी समय नायक–नायिका दोनों ही ब्रह्मानन्द सदृश आनन्द का अनुभव करते हैं। इस विषय में एक छोटा सा लौकिक दृष्टान्त है कि–

कोई एक युवती किसी युवक में आसक्त थी। उस युवती को अपने प्रियतम युवक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिख रहा था। तब वह बिल्कुल निःशंक होकर जिस समय अपने प्रियतम युवक से मिलने चली

जा रही थी, उसी समय कुछ आगे मार्ग में एक मौलाना साहब नमाज पढ़ रहे थे। तब प्रेमान्ध होकर जाती हुई उस युवती का पैर उस कपड़े पर पड़ गया, जिसे बिछाकर मौलाना साहब नमाज पढ़ रहे थे। तत्काल उस युवती के प्रति अतिशय कुछ क्रुद्ध होकर मौलाना साहब ने उसे हराम कह दिया। इतने में उस युवती की भी आँखे खुल गयीं। युवती ने भी उत्तर दिया कि—

''मैं नरराची न लखी तुम कस लख्यो सुजान।
पढ़ कुरान बौरा गये नहि जाने रहिमान''॥

यहाँ पर युवती का तात्पर्य यह था कि—पान्चभौतिक एक मांस पिंड में प्रेम होने के कारण मुझे सारा संसार नहीं दिख पड़ा, तो फिर इतने ऊँचे लक्ष्य (रहिमन) खुदा अल्लाह में प्रेम होने पर भी मैं तुम्हें कैसे दीख पड़ी। इसी से ज्ञात होता है कि तुम कुरान पढ़कर बावले हो गये हो किन्तु उनमें तुम्हारा प्रेम ही नहीं है अस्तु जैसे यह-श्रृंगार रस की घटना है। उसी प्रकार भक्ति योग भी है, यही भक्ति रसायन का तात्पर्य भी है कि जब ध्याता की अपने ध्येय के प्रति अखण्ड समाधि लग जाती है तब उसे अपने ध्येय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता है। और वह उसी ब्रह्मानन्द में सदैव निमग्न रहता है। अत: उक्त सन्दर्भ से स्पष्ट है कि तैल धारावत अविच्छिन्न—भगवच्चरणारविन्द विषयक जो अनुस्मृति है उसी को भक्तियोग कहते हैं।

अब यहाँ पर शंका होती है कि यदि तैल धाराप्रवाहवत् अविच्छिन्न प्राप्त विषयक अनुस्मृति को ही भक्ति योग का स्वरूप माना जाय तो मारीच में भी यह भक्ति लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा। क्योंकि मारीच को भी अहर्निश श्रीरामजी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता था। जैसा कि महर्षि बाल्मीकि जी ने मारीच के मानसिक सन्तुलन का चित्रण किया है—

वृक्षे—वृक्षे हिपश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।
गृहीत धनुषं रामं पाश हस्तमिवान्तकम्॥''
अपि राम सहस्त्राणि भीत: पश्यामि रावण।
राम भूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति में॥
राम मेवंहि पश्यामि राहिते राक्षेसेश्वर।
दृष्टवा स्वप्न गतं राम मुदभ्रमापि विचेतन:॥
रकारादीनि नामानि राममस्तस्य रावण।
शात्नानि च रथाश्चैव वित्रासंजन पन्ति में॥

बा.रा.अ.सं. ३९ श्लोक १५ से १८ तक।

इसके उत्तर में समझना पड़ेगा कि—

भक्तिर्मुक्तेरूपाय: श्रुतिशतविहित: साधाधि: प्रीति रुपा। श्री वेदान्त देशिक स्वामी जी की इस उक्ति से

स्पष्ट है कि तैल धारावद्‌विच्छिन्न प्राप्य विषयक प्रीति रूप जो अनुस्मृति है उसे भक्तियोग कहते हैं।

प्रकृत में यह बात ठीक है कि महर्निश तेल धारावत अविच्छिन्न रूप से राम विषयक मारीच की अनुस्मृति थी, किन्तु वह प्रीतिरूप नहीं थी। अतः उक्त भक्ति लक्षण मारीच में नहीं जाता, और न अतिव्याप्ति दोष जाता है। यद्यपि उक्त लक्षण करने पर मारीच में अतिव्याप्ति नहीं होती, किन्तु शुर्पणखा में अति व्याप्ति हो जाती है क्योंकि तैल धारा के समान अविच्छिन रूप से राम विषयक प्रीति रूप अनुस्मृति सुर्पणखा की थी। भगवान श्री राम के प्रति सुर्पणखा का अनुभव प्रेम था। इसलिए उसने कही थी कि– "तुम सम पुरुष न मोसमनारी"।

यहाँ भी उक्त भक्ति लक्षण में "प्राप्यानुकूल" शब्द को सन्निवेश करने पर दोष हट जाता है। अर्थात् तैल धारावत् अविच्छिन्न ध्येय विषयक प्राप्यानुकूल प्रीति रूप जो अनुस्मृति हो उसे ही भक्तियोग कहा जाता है यद्यपि सुर्पणखा के प्राप्य राम थे, तथापि उनके अनुकूल शुर्पणखा की प्रीति (अनुस्मृति) नहीं थी। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव है। सुर्पणखा की प्रीति रूप अनुस्मृति होने पर भी प्राप्य राम के अनुकूल नहीं थी क्योंकि "**मातृवत् परदारेषु**" इत्यादि भारतीय संस्कृति के विपरीत पर दास विमर्षण माना गया है। जो मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सर्वथा प्रतिकूल है अतः यहाँ पर अति व्याप्ति दोष भी नहीं है।

अब यहाँ पर यह शंका होती है कि उक्त भक्तियोग का लक्षण महाराज दशरथ जी में पूर्णरीति से घटित होता है किन्तु उनकी मुक्ति नहीं हुई। अतः ज्ञात होता है कि भक्ति योग मुक्ति का कारण नहीं है अन्यथा–

"**यत्र यत्र भक्तिस्तत्र तत्र मुक्तिः**" इस व्याप्ति के अनुसार जिन–जिन में भक्ति हो उक्त सबों की मुक्ति अवश्य होनी चाहिये ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि श्री राजा दशरथ में यातो भक्ति नहीं थी, या तो भक्ति रहने पर भी मुक्ति नहीं हुई। अपितु श्री बाल्मीकि महर्षि ने लिखा कि–

"चित्रकूटं गते रामे पुत्र शोकातुरस्तदा।
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन सुतम्॥"

बा.रा. ९/९/३२

इस सूक्ति के अनुसार श्री राजा दशरथ जी को स्वर्ग हुआ है। किन्तु प्रकृत में यह समझना चाहिये कि– "**सा तु परानुरक्तिरीश्वरे**" इस शाण्डिल्य भक्तियोग सूत्र के अनुसार ईश्वर विषयक अत्युत्कृष्ट जो अनुरक्ति है उसे भक्ति योग कहते हैं। और यही मुक्ति का कारण भी है। महाराज दशरथ जी की श्री राम के विषय में जो अनुरक्ति थी वह ईश्वर भाव से नहीं थी, अपितु पुत्र भाव से थी। अतः उनमें भक्तियोग का लक्षण ही नहीं गया। और मुक्ति भी नहीं हुई। जैसा कि–श्री गोस्वामी जी ने कहा है कि– "**राव गयो सुरधाम**"। वस्तुतः यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो पहले ही श्री विश्वामित्र जी के द्वारा श्री राम के विषय में ईश्वर भाव समझा दिया गया था और एक दृष्टि में श्री राजा दशरथ पूर्ण भक्त भी थे। किन्तु–

"**सगुणोपासक मोक्ष न लेहीं**"। इस सूक्ति के अनुसार उन्होंने स्वयं मोक्ष नहीं लिया। अपितु यहाँ कोई

दोष नहीं है। अस्तु।

इस भक्तियोग रस की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें किसी प्रकार के उपकरण या गुणोत्कर्ष की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिए तो केवल विशुद्ध भाव की आवश्यकता होती है। जैसा कि—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्यचुवयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
कुब्जाया: किमु नाम रूपमधिकं किंतत्सुदाम्नो: धनम्।
वंश: को विदुरस्य यादव पतेरुग्रस्य किं पौरुषं,
भक्त्या तुष्यति केवलं नहि गुणै भक्ति प्रियो माधव:।।

इस सूक्ति के द्वारा स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि भाव ही भक्ति योग का मूल मन्त्र है। इसी भाव का चित्रण सन्त तुलसी दास जी ने अपने मानस में किया कि—''**सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अट पटे।**''

विहंसे करूणाऐन चितै जानकी लखन तनु।। भगवान श्री राम ने केवट की अन्तरात्मा को ही देखा अपितु बाह्य शरीर को नहीं। अत: उपरिनिर्दिष्ट ही भक्ति योग का सामान्य लक्षण है तथा— ''**भक्तिर्मुक्तेरूपाय**''। इस सूक्ति के अनुसार एक मात्र भक्तियोग ही मुक्ति का उपाय है। अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि— अब हमारे मानव देह की सफलता कैसे हो ? क्योंकि यदि मानव देह प्राप्त करने पर भी चुतुर्वर्ग में प्रधान मुक्ति की प्राप्ति न हो पायी तो मानव होना ही निरर्थक हुआ। ऐसी स्थिति में अनन्य भाव से एकमात्र भगवत् शरणागति ही अर्थात् भक्तियोग ही हमारी मुक्ति का उपाय हो सकती है। अत: मनुष्य मात्र के लिए सर्वात्मना भक्ति योग का आलम्बन करना परमावश्यक है। क्योंकि भक्तियोग का अन्तिम फल भगवत्स्वरूप ज्ञानपूर्वक मुक्ति है। और —''**ऋतेज्ञानान्न मुक्ति:**'' इस सूक्ति के अनुसार भगवत्स्वरूप ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती और प्राणी जन्म मरण के चक्कर में फँसकर बार—बार चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है जिससे छूटने के लिए भक्तियोग के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। इसलिए कहा गया है कि—

१. **तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेयनाय।** शुक्ल यजुर्वेद—३१—१८।

२. **तस्य ते भक्तिवान्स: स्याम।** अथर्ववेद ६—७९—३।

अर्थात् हे प्रभो ! हम तुम्हारे अनन्य भक्त बनें। उपरिलिखित सन्दर्भ के परिशील से ज्ञात होता है कि नवधा भक्ति के रूप में उपासना अब तक चली आ रही है। यद्यपि **अहिर्बुधन्य संहिता** में २६ प्रकार की भक्तियोग का उल्लेख किया गया है। तथापि उन सब प्रकारों का नवद्याभक्ति में अन्तर्भाव हो जाता है। अत: नवधा भक्ति मानना अधिक उपयुक्त है।

श्री मद्भागवत् में निर्दिष्ट भक्तियोग प्रकारों का स्वरूपत: उल्लेख करना सम्भव नहीं है। अत: वक्तृबोधव्य के साथ स्थल निर्देश किया जा रहा है।

श्री मद्भागवत् में भक्ति योग प्रकार—

"भगवद् इमे भागवताः, भागवतानां धर्माः भागवत् धर्माः"।

इस व्युत्पत्ति के अनुसार श्री भगवान के चरणारविन्द के आश्रय में रहने वाले भक्तों के कार्य कलाप को भागवत धर्म या भक्ति योग धर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में भागवतों की भजन क्रिया की अनेक विधायें ही विभिन्न भागवत धर्म है। श्री मद्भागवत महापुराण में नानाविध प्रकारों का उल्लेख निम्नलिखित स्थलों पर पाया जाता है। स्कन्ध, अध्याय, श्लोकों को अंकों द्वारा समझना चाहिये।

१. श्री शुकदेव जी के द्वारा महाराज परीक्षित के प्रति उपदिष्ट **त्रिविध भक्तियोग**। (२—१—२/२—२—२६)

२. श्री सूतजी द्वारा श्रोताओं के प्रति उपदिष्ट **चतुर्धा भक्तियोग**। (१—२—१४)

३. श्री शुकदेव जी के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के प्रति निवेदित **पञ्चधा भक्तियोग**। (१०—८६—३६)

४. नल कूबर द्वारा श्री भगवान के प्रति निवेदित **षोढ़ा भक्तियोग**। (१०—१०—३८)

५. भगवान कपिल द्वारा अपनी माता देवहुति के प्रति उपदिष्ट **सप्तधा भक्तियोग**। (३—२७—२१—२३)

६. प्रहलाद जी के द्वारा हिरण्यकश्यप के प्रति समर्पित **नवधा भक्तियोग**। (७—५—२२)

७. श्री शौनकजी के द्वारा सूत जी के प्रति वर्णित **दशधा भक्तियोग**। (२—३—१९—२४)

८. श्री महाराज अम्बरीष जी के द्वारा **एकादशधा भक्तियोग**। (९—४—१८—२०)

९ श्री नारदजी द्वारा प्रहलाद जी को उपदिष्ट **द्वादशधा भक्तियोग**। (७—७—३०—३६)

१०. भगवान श्री कृष्ण द्वारा उद्धव जी के प्रति **त्रयोदशधा भक्तियोग**। (११—१९—२०—२३)

११. श्री कृष्ण द्वारा उद्धव जी को ही उपदिष्ट **पञ्चदशधा भक्तियोग**। (११—१९—२०—२३)

१२. माता देवहुति द्वारा कपिल जी के प्रति उपदिष्ट **अष्टदशधा भक्तियोग**। (३—२६—६—११)

१३. सनत्कुमार जी के द्वारा महाराज पृथु के प्रति उपदिष्ट **धा भक्ति योग**। (४—२२—२—२—२५)

१४. भगवान कपिलजी के द्वारा देवहूति के प्रति उपदिष्ट **विंशतिधा भक्तियोग**। (३—१९—८५—१६)

१५ भगवान श्री कृष्ण के द्वारा उद्धव के प्रति उपदिष्ट **चतुर्विंशतिधा भक्तियोग**। (११—११—३४—४१)

१६. कपिलजी के द्वारा माता देवहुति के प्रति उपदिष्ट **पञ्चविंशतिधा भक्तियोग**। (३—२८—२६)

१७. ऋषभदेव जी के द्वारा अपने पुत्रों के प्रति उपदिष्ट **२६धा भक्तियोग**। (५—५—१०—१३)

१८. श्री नारद जी के द्वारा श्री युधिष्ठर के प्रति वर्णित **३० त्रिशधा भक्तियोग**। (७—११—८—१३)

१९. महर्षि प्रबुद्ध के द्वारा विदेह के प्रति वर्णित ३६धा भक्तियोग। (११—३—२३—३१)

यद्यपि उक्त विधाओं में से सभी कल्याण कारक है तथापि इनमें से नवधा भक्ति योग का स्थान अधिक उत्कृष्ट है। उनमें भी जो पञ्चम (अर्चन) भक्तियोग है उसकी छाप जन जीवन में सर्वाधिक है। आसेतु हिमाञ्चल, सर्वत्र मन्दिरों और सद्गृहस्थों के घरों में श्री भगवान का अर्चन विधिवत सम्पन्न होता है। भारत में जितने भी देव मन्दिर हैं, वे सभी अर्चन नामक भागवत धर्म के प्रतीक है। देवताओं की प्रतिमाओं और

उनके आयतनों का निर्माण संसार में वैदिक काल से ही चला आ रहा है। अर्चन का एक नाम है क्रियायोग, जिसका वर्णन श्रीकृष्ण ने उद्धव से किया था। क्रिया योग नामक भागवत् धर्म के अनुष्ठाता अपने आराध्य श्री भगवान का आराधन अपने हृदय में अथवा पृथ्वी, जल, सूर्य, अग्नि में से किसी एक के भी माध्यम से कर सकते हैं। वैदिक भक्तियोग काल है मोक्ष। इस शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार उपनिषदों में वर्णित भक्ति योग का वही अधिकारी माना जाएगा कि आर्थित्व एवं सामर्थ्य ये दोनों गुण विद्यमान हों। जो मोक्षाभिलाषी हो उसी में आर्थिक माना जाएगा। उसका आर्थित्व भी तभी सिद्ध होगा जब कि भक्ति योग के विषय में उसकी पूर्ण जानकारी हो। साथ ही भक्ति योग करने की पूर्ण शक्ति हो। वे ही उपनिषदों का अध्ययन तथा ब्रह्मविद्या के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

किन्चित भक्तियोग विलम्ब से मोक्ष देता है। क्योंकि प्रारब्ध एक या अनेक जन्मों में समाप्त होता है। इसका कोई ठिकाना नहीं। इसलिए कहा है कि–

''अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो यान्तिपरां गतिम्''।

इस स्थिति में भक्ति योग का वही अधिकारी माना जा सकता है जो मोक्ष प्राप्ति होने वाले विलम्ब को सहन कर सके। शरणागति मोक्ष शीघ्र दे सकती है। इसमें किसी प्रकार की पात्रता अपेक्षित नहीं है। अतः भक्तियोग विषयक ज्ञान, शक्ति, जाति, गुण न होने पर भी जीव शरणागति प्राप्त कर सकता है जैसे निम्न लिखित जीवों (प्रपन्नों) ने कल्याण को प्राप्त किया। केवल शरणागति के बल पर–

१. धर्मपुत्र को राज्य प्राप्ति।

२. द्रोपदी को वस्त्र प्राप्ति।

३. नाग पत्नियों को पति प्राप्ति।

४. जयन्त और कालीय को जीवन प्राप्ति।

५. गजेन्द्र को भगवत्प्राप्ति (मोक्ष)।

६. सुग्रीव को श्रीराम प्राप्ति।

७. विभीषण को श्रीराम की प्राप्ति।

८. सुमुख को गरुड़जी से त्राण (रक्षा)

९. श्री लक्ष्मण जी को श्री राम कैंकर्य प्राप्ति हुई है। इससे सिद्ध होता है कि– शरणागति को केवल भगवान के श्री चरणों में महाविश्वास होना चाहिये। सुदृढ़ विश्वास ही महाविश्वास है। जहाँ श्रद्धा और विश्वास हो, वहीं भक्तियोग सुदृढ़ हो जाता है। और जब भक्ति योग सुदृढ़ होता है तो ज्ञान योग और कर्म योग भी सुदृढ़ हो जाता है। जब तीनों सुदृढ़ हो जाते हैं तो परमात्मा की पूर्ण प्राप्ति हो जाती है।

* * *

स्वयंब्रह्म योगेश्वर परमप्रभु श्रीचन्द्रमोहनजी महाराज की दिव्य प्रेरणा

योग और विश्वकल्याण

राकेश कुमार श्रीवास्तव 'राजू'

विश्व कल्याण चाहने वाला हर व्यक्ति वास्तव में ईश्वर का सच्चा भक्त होता है। ऐसी ईश–भक्ति मानव कल्याण बिना सम्भव नहीं है। हम सभी ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं। तमोगुण की उच्च अवस्था को प्राप्त आध्यात्मिक शून्य हृदय वाले, वर्ण व्यवस्था की चौथी श्रेणी के लोगों को छोड़कर, शेष सभी की यह भावना होती है कि हम ईश्वर को बहुत प्रिय हों। काश ! वे हमारे होते हम उनके होते। यह भावना मनुष्य जाति के आविर्भाव से प्रलय पर्यन्त रहती है। किन्तु मनुष्यों में आन्तरिक संवेगों (संवेदनाओं), मन:स्थितियों और बुद्धि की विविधताओं से संयुक्त असंख्य प्रकार की चित्त वृत्तियों के कारण, उनकी यह ईश–प्रेम और ईश–भक्ति की इच्छाऐं भारी अन्तर लिए पृथक–पृथक प्रकार की प्रतीत होती हैं। कोई तुलसी सेवा से, कोई ब्राह्मण, गऊ व माता–पिता की सेवा से, कोई गंगादि स्थानो व तीर्थों से, कोई तप, भजन, ज्ञान चर्चा, यज्ञ, दानादि अनेक मार्गों से अपने मनोनुकूल साधना मार्ग चुनकर ईश्वर–भक्ति का उद्योग करते हैं किन्तु इनमें से कोई भी अपने लक्ष्य में सफल नहीं होता क्योंकि उपर्युक्त सभी साधन उपयुक्त तो हैं किन्तु क्षणिक पुण्य बढ़ाने वाले होने से पिछले अगणित जन्मों के क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कारों का आराम से भुगतान कराकर मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति (सत्व, रज और तम) में परिवर्तन करने में सक्षम नहीं है। स्वार्थी और अहंकार युक्त मनुष्य ईश्वर की कभी भी उपयुक्त श्रेष्ठ भक्ति नहीं कर सकता क्योंकि उसमें मानव प्रेम नहीं होता, विश्व कल्याण की भावना नहीं होगी। ऐसे पुरुषों का स्वार्थ और अहंकार–"मानव सेवा और जीवों पर दया करना ही ईश्वर की सच्ची सेवा और भक्ति है"–इन सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करने देते। योगविद्या का अनुशीलन करुणा के दैवीय गुणों से भर देता है। मनुष्य के प्रति प्रबल प्रेमास्था और करुणा रखने वाले योगारुढ़ व्यक्तियों से ही विश्वकल्याण सम्भव है। जो सद्भावनाऐं हम अपने–अपने कल्याणार्थ पृथक–पृथक रखते हैं उससे

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी विश्व कल्याण की भावना रखते हैं किन्तु विश्व के मानव के कल्याण करने का कौन सा मार्ग है अथवा इस साध्य को प्राप्त करने का साधन क्या है? यह विचारणीय हैं। भले ही इसका समाधान कोई किसी प्रकार से करें उसे इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि विश्व कल्याण की मूलभूत ईकाई मानव कल्याण ही है !

अखिलात्मा विश्वनाथ योगेश्वर

अनन्त श्रीचन्द्रमोहनजी महाराज

कई गुनी भावना हमें विश्व कल्याण हेतु रखनी चाहिए। सबके कल्याण से ही हमारा—अपना, सबका कल्याण सम्भव है।

जितना—जितना मानव विश्व—मानव के प्रति स्नेह युक्त होता जाता है वह उतना ही सरल (देहाभिमान अर्थात कर्तापन की भावना 'अहंकार' से विमुख) होता चला जाता है। 'मैं'—रूप अहंकार से च्युत मानव फिर मानव नहीं महामानव महात्मा और महापुरुष होता है। योग मार्ग (गुरुभक्ति पूर्ण ध्यानाभ्यास की साधना) की अति उच्च भूमिकाओं की प्राप्ति हेतु आवश्यक पुरुषार्थ कर्मों में, 'मानव हितार्थ परोपकार' ही सर्वश्रेष्ठ है। ऐसे ही योगाभ्यासियों के द्वारा ईश्वर प्राप्य है। योगविमुख पुरुषों द्वारा अन्यान्य साधनों से ईश्वर को प्राप्त करना (पूर्ण अर्थों में) कभी सम्भव नहीं है। अतः मानवों में, पारस्परिक प्रेम और करुणा पैदा करके विश्व कल्याण भावना द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए योग विद्या का आश्रय लेना विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। विश्व मानव कल्याण से हमारे आत्मिक कल्याण की उन्नति सम्भव है।

आत्मिक बल या परमाणु शक्ति ?

सम्प्रज्ञात समाधि वाले योगी हो अथवा इससे भी ऊंची स्थितियों वाले अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में अवस्थित योगी हों, इन योगियों की विशुद्ध—निर्मल आत्माओं से विश्व की समस्त जीवात्माओं के आत्मिक प्रकाश का सम्बन्ध रहने से, प्रत्येक जीव का दुःख इन्हें अपना ही लगता है जीवात्माओं की अन्तर्वेदनाएं, तीव्र संवेग से उठने के कारण, सूक्ष्मतम तरंगों में परिवर्तित हो प्रबलवेग से गतिमान होकर तत्काल महान योगियों की विराट आत्माओं तक सन्देशवाहक के रूप में पहुंच जाती है। दुःखी प्राणियों की अति क्लिष्ट संवेदनाओं का करुण स्पर्श पाकर इन महान योगियों का विशाल हृदय अत्यन्त द्रवीभूत होकर जीवोद्धार के लिए हर सम्भव प्रयास करते है। श्री प्रभुजी (पूज्य गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज), अपने गुरुदेव त्रिलोक नियन्ता महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के भूमण्डल पर अनेक शरीरों से प्रकट होने के मूलभूत कारण के विषय में बतलाया करते थे (गुरुदेव के शब्दों में)— "जब श्रीप्रभुजी से पृथ्वी पर आने का कारण अनेक भक्तों द्वारा पूछा गया तो श्री प्रभुजी कहने लगे— अरे, तुम लोग क्या करोगे जानकर ? हमने हिमालय से अपने असंख्य संस्कारी बच्चों को महान दुःख से कुलबुलाते देखा हमें दया आ गई बस, यूं ही चले आये।" —श्री गुरुदेवजी महाप्रभुजी के पावन मुख से उच्चरित इन शीतल, संकट हरण शब्दों को कंठ गद्—गद् कण्ठ होकर सुनाया करते थे।

प्रकृतिजन्य विषयों के उपभोग में अनासक्त हुये, उसके गुणों से अप्रभावित, प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त निर्मल चित्त योगी मनुष्य लोक के समस्त क्रिया कलापों से आबद्ध रहते हुये भी मनुष्य के किसी वर्ण, जाति, धर्म, लिंग, देशविशेषादि से पृथक सम्बन्ध नहीं रखते। समस्त विश्व ही उनका अपना देश, अपना शहर, अपना परिवार होता है जिनकी एक ही जाति (मानव जाति) और एक ही धर्म (योग धर्म) होता है। इसलिए योगियों के पुरुषार्थ पूर्ण कार्य, विश्व के समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ होते है। ये अलग बात है कि भारत भूमि की पवित्रता को ध्यान में रखकर पूर्णता को प्राप्त भारत के युक्तयोगी भारत में ही रहना पसन्द करें। योग मार्ग में पवित्रता रखना कितना महत्त्वपूर्ण और नितान्त आवश्यक है, अपने योगारूढ बच्चों को केवल इतना समझाने के लिए पूज्य गुरुदेव ने कभी भी योगप्रचार हेतु विदेश जाना स्वीकार नहीं किया। किन्तु वे

अपने निवास स्थान से ही समग्र विश्व जनसमुदाय और जीव मात्र के उत्थान–पतन को अपने योगबल से नियंत्रित किया करते हैं।

योगी परम् विश्व प्रेमी होते हैं। 'विश्व मानव प्रेम और शान्ति' स्थापित करने के लिए योग विद्या से अधिक उपयुक्त और सार्थक कोई उपाय नहीं है। विश्वप्रेम की इस सद्भावना के कारण ही विवेकानन्द और योगानन्द आदि भारत के अनेक योगियों ने भारत से बाहर अन्यान्य देशों में योगविद्या का अमर प्रचार किया। योग विद्याओं के धनी इन महापुरुषों को विदेशों में वहाँ के विशिष्ट और प्रतिष्ठित समाज से अनौपचारिक, वास्तविक स्वरूप में आशातीत सम्मान और स्नेह प्राप्त हुआ। क्योंकि इस प्रकार के मानवीय समझौते में किसी प्रकार की शर्त और प्रतिबद्धता नहीं है, बल्कि इसमें विश्व मानव हित में उनके कल्याणार्थ निःस्वार्थ सेवा की भावना निहित है। अपने देशवासियों के साथ–साथ विदेशियों को भी योगारूढ़ करके आत्मिक शक्ति सम्पन्नता का सुख पहुँचाना हमारे ही देश के महान योगियों, संत–महात्माओं की अखण्ड अविरल उदारता तथा भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है।

प्रकृति जन्य अज्ञानता के अन्धकार में जाग्रत मनुष्य को मोक्षरूप योग निद्रा में सुलाने वाली 'सिद्धयोग' पत्रिका के उपरोक्त लेखांश को पढ़ते–पढ़ते श्री उपाध्यायजी कब गहरी निद्रा में अवस्थित हो गये उन्हें पता ही नहीं चला। वे मूलतः हरिद्वार के निवासी हैं। वहीं अपने ज्येष्ठ पुत्र के परिवार के साथ अपने एकान्त कमरे में ध्यानादि की साधनायें और गुरुदेव के चिन्तन का अद्वितीय सुख प्राप्त करते हुये, ७५ वर्ष की अवस्था में भी स्वस्थ–शांत जीवन व्यतीत करते हैं। महान स्वतन्त्रता सैनानी व भारत के सच्चे भक्त, संस्कार, शिक्षा और सद्चरित्रता के प्रति गहरी आस्था रखने वाले श्री उमाशंकर उपाध्यायजी शारीरिक शिथिलता के प्रबल प्रतिरोध में भी आजतक कठिन परिश्रमी, धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति आवश्यकतानुसार कट्टर, गम्भीर और जागरूक हैं। आजकल वे एक सप्ताह के लिए अपने लघु पुत्र अमित उपाध्याय के यहाँ, विशेष रूप से उसके परिवार के सभी सदस्यों के समस्त क्रिया कलापों का अवलोकन करके उन्हें योगपरक उचित मार्ग में जीवन व्यतीत करने के लिए ही निर्दिष्ट करने आये हैं। आगरा की दक्षिणी सीमा के अन्दरूनी क्षेत्र की एक साधारण बस्ती में स्थित अपने निजी किन्तु साधारण आवास में अमित अपने परिवार के साथ शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करता है। वह दो पुत्र तथा एक पुत्री का कुशल और श्रेष्ठ पिता है जो मातृ–पितृ और गुरु भक्ति के सद्गुणों से युक्त है। वह आधुनिक तथा प्राचीन सैद्धान्तिक संस्कृतियों के मध्य, सामंजस्य स्थापित करके, वर्तमान द्वन्द्वपूर्ण वातावरण में जीवन यापन करना उचित और श्रेष्ठ समझता है। जिसे निः सन्देह कलयुग में सुखमय ग्रहस्थ जीवन निर्वाह की दृष्टि से उपयुक्त और उचित कहा जा सकता है। अमित का ज्येष्ठ पुत्र १६ वर्षीय अखिल है। शैतान आदतों का होते हुये भी सरल चित्त वृत्ति का है जो माता–पिता के सख्त अनुशासन के बावजूद भी अत्याधुनिक पाश्चात्य संस्कृति में आसक्त मित्रों की संगति से प्रभावित है। अमित अपने अल्प वेतन में ही समस्त पारिवारिक उत्तरदायित्वों को निभाता है अर्थात् अन्य अनुचित साधनों से धन संग्रह के लिए कल्पना में भी उद्यत नहीं होता। बाबूजी द्वारा दी गई अन्तःशुद्धि हेतु पवित्र और नेक कमाई का ही उपभोग करने वाली चेतावनी का उस पर गहरा असर हुआ है। योगी माता–पिताओं की सन्तान को अवश्य ही 'अमित' की तरह

उनका अज्ञाकारी होना चाहिए।

आज १२ मई को हरिद्वार से आए चौथा दिन हो गया है। बाबूजी ने प्रातः उठकर नित्यकर्म पूजा—अर्चना, आसन—प्राणायाम से निवृत होकर, अपने पलंग से जोर से पुकारा—

"उर्मिला बेटी !"

"आती हूँ, बाबूजी !" रसोई घर में से उर्मिला की आवाज आई। वह जानती है इस वक्त बाबूजी क्या चाहते हैं। थोड़ी ही देर में वह अपने एक हाथ में दूध का गिलास और दूसरे में कुछ बिस्कुट आदि लेकर बाबूजी के कमरे में प्रविष्ट हुई। अपना नाश्ता देखते ही उपाध्यायजी खुश होकर बोले—

"तुमने कैसे समझ लिया कि मैंने तुम्हें नाश्ते के लिए ही पुकारा था ?" बाबूजी ने उत्सुकता पूर्वक पूछा।

"नित्य के अभ्यास से"। उर्मिला ने सूक्ष्म सा उत्तर दिया।

"मेरी बारह बजे वाली दवा का समय मत भूलना।" बाबूजी ने याद दिलाया।

"(पूर्ण विश्वास के साथ) निश्चिन्त रहिए ! मैं दूध वाले का, सब्जी वाले का, इनका (पति का) आफिस आने—जाने का, बच्चों के स्कूल का, भोजन का अपने कार्यों का समय भूल सकती हूँ लेकिन आपके समस्त कार्यों का टाइम टेबिल मुझे हर समय कण्ठस्थ रहता है क्योंकि मुझे पता है बिलम्ब से आपका विरोध है गाँधी जी के साथ जो रहे हों। थोड़ा सा भी विलम्ब होने पर आपके चिढ़चिढ़ाने का भय बना रहता है।"

लघु पुत्रवधु के मुख से अपनी मीठी निन्दा सुनकर उपाध्याय जी स्नेहयुक्त हँसी हँसने लगते हैं। बाबूजी कुछ नहीं कहते वे जानते हैं उर्मिला बेलगाम होकर मधुरता के साथ कड़वे वचन अवश्य बोलती है किन्तु अन्दर से अत्यन्त सरल—सहज, सेवा निष्ठा और कर्तव्यपरायणा है। इसी प्रकार की खट्टी—मीठी, नौंक—झौंक में दोनों का दिन व्यतीत हो जाता है। तभी अचानक उपाध्याय जी को कुछ याद आया—

"अखिल कहाँ है?"

"आपका लाड़ला है कहीं गया होगा, लौटकर आयेगा और आपसे क्षमा माँग कर तत्काल दोषमुक्त हो जायेगा।"

तभी—

"धाँय, धाँय" (कान फोड़ने वाले धमाके हुये)

दोनों प्राणी अपने—अपने स्थानों से हिलगये अभी भी वे अपने—अपने कानों पर हाथ रखे हुये हैं। अभी हटा भी नहीं पाये हैं। कि पुनः—

"धाँय—धाँय"—समूचा गगनमण्डल जैसे गहरी निद्रा से अचानक जागपड़ा हो, बारूद के धमाकों से इस प्रकार कम्पायमान हो उठा। उपाध्यायजी के वृद्धकान धमाकों की तीव्र ध्वनियों को सहन नहीं कर सके। (झुंझलाहट के साथ बोले)

"बेटी, जरा बाहर तो देखो ! ये सब क्या हो रहा है ?"

"बाहर गली के चौकपर बच्चे पटाखे छोड़ रहे हैं" उर्मिला ने उत्तर दिया।

"वो तो ठीक है किन्तु, किस खुशी में ?" उन्होंने बड़ी उत्सुकता से पूछा। अब आप न टी.वी. देखते हो और न हम लोगों को देखने ही देते हो, क्योंकि आपको हमारे कुसंस्कारित होने का भय हर समय बना रहता है। इसीलिए आपको कुछ पता तो रहता नहीं है। भारत ने कल ११ मई को कुछ परमाणु विस्फोट, परीक्षण बतौर किये हैं। सारे संसार में आज इसी बात की चर्चा है। इसी खुशी में कॉलोनी के बेरोजगार और आवारा लड़के प्रातः ८ बजे से ही जश्न मना रहे हैं और धूम धड़ाका कर रहे हैं। अब सच–सच बता दूं आपका लाडला 'अखिल' भी इन्हीं लड़कों में अपनी अपार खुशी को व्यक्त करने गया है, शेष उसी से पूछ लेना।"

"बेटी तुम कैसे जानती हो ये सब ?"

"सुबह सात बजे दूधवाले ने जब आवाज दी तो मैं तुरन्त दूध का पात्र लेकर गली में पहुँची तो वहां पण्डितानी बुआ गली की कुछ अन्य औरतों से चर्चा कर रहीं थीं। मुझे देखते ही बोलीं–अरी, तेरे पति ने तुझे कुछ बताया है ? मैंने कहा वो बाहर गये है यहां नहीं है, तो कहने लगी– "भारत में अब बहुत खतरनाक बम बन गये हैं। बहन, सारी दुनियाँ में इसी बात का हल्ला हो रहा है। छोड़ दिये जायें तो सारी पृथ्वी को पलक झपते ही तबाह कर दें। हे भगवान ! कलयुग में क्या–क्या हो रहा है।" तभी प्रभा नाम की एक शिक्षित महिला ने कहा– "बुआजी, ऐसा तो देश की सुरक्षा के लिए किया गया है।" पण्डितानी बुआ ने तुरन्त उस की उक्ति पर उपहासपूर्ण मुखाकृति बनाते हुये कहा– "हाँ वही तो मैं सोच रही हूं कि भौतिक उन्नति में आसक्त आधुनिक लोगों के समस्त क्रिया–कलाप हमारे जैसे अल्पज्ञानियों के लिए सचमुच बड़े ही विस्मयबोधक होते हैं। जो हृदय में कौतूहल और आश्चर्य पैदा किये बिना नहीं रहते। मूल प्रकृति से अति विध्वंसकारी तत्वों में आश्रय लेकर मानव जीवन के परम सुख हेतु शान्तिपूर्ण व्यवस्था की कल्पना करना कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है। कलयुग से प्रभावित पुरुषों के लिए यही उनके साहसिक कार्य है। निरर्थक और आत्मिक कल्याण के विरुद्ध कार्यों की सिद्धि में ही गर्वानुभूति का उन्हें लौकिक सुख प्राप्त होता है।" ऐसा कहती हुई बुआजी अपने घर की ओर बढ़ गईं।

लौटते में, दूध लेने आयी पड़ोस की राधा मुझे अपने यहां थोड़ी देर के लिए जबरदस्ती खींच ले गई। वह कल दो कीमती साड़ियां खरीदकर लायी है, मेरे मुख से उन साड़ियों की खरीददारी पर प्रशंसा सुनने की उसकी स्वाभाविक इच्छा थी। खरीदारी में उसकी अद्वितीय कुशलता पर प्रशंसा के पुल बांधते समय मेरी दृष्टि, समीप ही रखे अखबार पर पड़ी। वहीं पर मैंने परमाणु बमों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त की। मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि राधा का लड़का 'आलोक' सुबह प्रातः से ही अपने यार–दोस्तों में गया हुआ है। वे सभी आपस में चन्दा इकट्ठा करेंगे, प्रधानमंत्री जी की प्रशंसा में भाषण करेंगे, नारे लगायेंगे, विस्फोटक ध्वनियां करके हर्षित–उल्लसित होंगे, खायेंगे–पीयेंगे और नृत्य करेंगे। वहीं मुझे यह अनुमान करने में कोई सन्देह नहीं रहा कि अखिल भी निश्चित रूप से इन्हीं आवारा लड़कों की टोली में शामिल होने के लिए ही घर से सुबह ही चुपचाप निकल गया है। भारत ने कल तीन परमाणु विस्फोट किये है। वैसे देखा जाये तो बाबूजी, अच्छा ही हुआ; इस बहाने कुछ शान्ति तो मिलेगी। पड़ौसी व विश्व के अन्यान्य शक्ति सम्पन्न देश भारत को चैन नहीं लेने देते थे। आतंकवाद के द्वारा पाकिस्तान ने तो कब से नाक में दम कर रखा है इसे तो सबक मिलना ही चाहिए। आतंकवादियों के कुकृत्यों के कारण भारत अब तक स्वयं को बहुत असुरक्षित महसूस कर रहा था।

उपाध्यायजी यह समाचार सुनकर गहरी चिन्ता में डूब गये, सोचने लगे– ''क्या सचमुच भारत अब सुरक्षित हो गया है ? 'उर्मिला' और 'प्रभा' की ही भाँति भारत का प्रत्येक शिक्षित प्राणी जो आधुनिक विचार शक्ति के परायण हुआ है, असैद्धान्तिक विचारधाराओं का ही पक्षधर है। वे लोग जो सुरक्षा और असुरक्षा के यथार्थ स्वरूप को ही नहीं जानते, फिर उनके उपर्युक्त प्रसंग से सम्बद्ध बौद्धिक निर्णय किस प्रकार मानव को सुरक्षित जीवन प्रदान करने के लिए उपयुक्त और श्रेष्ठ हो सकते हैं? **निर्भय सदैव अजेय है।** भयरहित व्यक्ति को त्रिलोक में कोई परास्त नहीं कर सकता अर्थात सर्वभयमुक्त हो प्रत्येक काल और स्थिति में सुरक्षित कहा जा सकता है। क्योंकि वह ईश्वर तुल्य ही हो जाता है। आधुनिकता और प्राचीनता का अन्तर, दीर्घ समयान्तर के प्रभाव से कितना विपरीत अर्थक हो गया है कि सभी प्राकृतिक वस्तुएँ, सर्वसिद्धान्त और कर्तव्य कर्म चेष्टाएँ और वास्तविक स्वरूप में प्रत्यक्ष होकर, भ्रमयुक्त और संशययुक्त भासती हैं। ऋषि–मुनियों, सिद्धों–योगियों, सन्त–महात्माओं द्वारा निर्मित और निर्देशित प्राचीन कर्म सिद्धान्त के परिपालन से, प्राचीन मानव का लोक तो सुधरता ही था, परलोक भी सुधर जाता था। अन्तर्मुखी महापुरुष योगियों ने अपने विशिष्ट ज्ञान चक्षुओं के द्वारा प्राकृतिक तत्वों के पारस्परिक सम्बन्धों को भलीभाँति समझकर, मानव हितार्थ कुछ ऐसे श्रेष्ठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो मनुष्य के लोक और परलोक दोनों से सम्बन्ध रखने वाले थे क्योंकि मनुष्य के इहलोक जगत (बाह्यजगत) के समुन्नत होने पर ही उसकी आभ्यन्तर उन्नति सम्भव है। आधुनिक जीवन में शिक्षित पुरुषों की समाज सुधारक तथा विश्व कल्याणार्थ चेष्टायें, विषयासक्त मनुष्यों को इन्द्रिय सुख प्रदान करने वाली हैं। जिनका सम्बन्ध केवल विषयोपलब्धि से होता है। संक्षेप में आशय है कि आधुनिक पुरुष केवल अपने इहलोक को ही सफल बनाने के प्रयास करते हैं, अतः इनके कर्म सिद्धान्तों में विषयोपभोग की भावना निहित होने से, अन्तः विकास के लिए कोई मौका नहीं होता। जो प्राकृतिक संसार अपने समस्त ऐश्वर्यों (इन्द्रिय विषयों में सम्पन्नता) के साथ एक न एक दिन नाश को प्राप्त होगा, उसमें आसक्त मनुष्य को फिर कैसे स्थायी (परम) सुख प्राप्त हो सकता है ? और जिनका सांसारिक जीवन सफल नहीं है अर्थात द्वन्द्व रहित (राग–द्वेष रहित) नहीं है ऐसे भाग्यहीन पुरुषों की आध्यात्मिक उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। फिर सांसारिकता में फँसे लोगों के निर्णयों को, योगी पुरुषों के द्वारा स्वीकार किया जाना कैसे सम्भव हो सकता है ?'' ऐसा सोचते हुये उपाध्याय जी होठों ही होठों में धीरे से बुदबुदाये– ''ठीक ही तो कहती है बूढ़ी महिला 'पण्डतानी बुआ' किन्तु यहाँ उसकी बात को कौन समझने वाला है ?'' उर्मिला के तेज कानों ने तुरन्त बाबू के अस्पष्ट शब्दों को समझ लिया और फिर–

उर्मिला– 'आप भी पण्डतानी बुआ आदि पुराने लोगों की अवैज्ञानिक बातों पर श्रद्धा और विश्वास करते हैं ?'' उसने स्वयं को शिक्षित होने का गर्व महसूस करते हुये पूछा।

उपाध्यायजी– ''(गम्भीर मुद्रा बनाते हुए) यही तो विशेष आश्चर्य की बात है जिस, 'सन्त' को भारत का शिक्षित समाज नहीं कह सकता उस 'सन्त' को एक अनपढ़ महिला ने कह दिया। पुराने शिक्षित समाज की वह, साधारण विचारों वाली धार्मिक महिला है, पवित्र अन्न ग्रहण किया है उसने, इसीलिए उसकी सतोगुणी प्रकृति उसे सम्यक् ज्ञान दे रही है। हमारे देश में साधारण वेशभूषा वाले, अनपढ़ कबीर को पहचाना समझा जाता है इस बात को मत भूलो, बेटी''।

वैज्ञानिक शिक्षाओं से प्रेरित और उनकी सफलताओं (आश्चर्य व चमत्कारों के प्रति उत्साहित आधुनिक शिक्षित वर्ग द्वारा, भौतिक ज्ञान के विभिन्न सैद्धान्तिक कोणों पर परख कर, अतीन्द्रिय नाम के धनी प्राचीन महापुरुषों की तथा उनके मानव हितार्थ आध्यात्मिक उद्योग को विस्मृत करते हुये, उनके द्वारा आविष्कारित विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों– क्रिया कलापों को अनुपयुक्त और अन्ध विश्वास की सामिग्री समझना आधुनिक समय की नितान्त गलत धारणायें हैं। अतीत के अनुभवों से प्रेरणा लेकर वर्तमान सुधारा जाता है तथा भविष्य के कार्यों की सफलता के लिए वर्तमान में ही समस्त उपयुक्त प्रयास कर लिए जाते हैं। वर्तमान में लापरवाह और आलस्य युक्त लोगों का भविष्य अत्यन्त दयनीय होता है विभिन्न भौतिक विषयों के ज्ञान को प्रदान करने वाली शिक्षा तथा आत्मनिर्भर (जीविका कमाने हेतु) बनाने वाली व्यावसायिक शिक्षा में विशेष योग्यता रखने वाले आध्यात्मिकता से शून्य विषय भोगों में आबद्ध लोग ही 'पुरानेपन' के नाम से ही घृणा करते हैं। इन्हें सब कुछ नया–नया ही अच्छा लगता है। अपने ज्ञान पर मिथ्या अभिमान करने वाले ऐसे लोगों द्वारा ही प्राचीन आध्यात्म–विषयक अनुपम–अद्वितीय सिद्धान्तों की उपेक्षा की जाती हैं उपर्युक्त दोनों प्रकार की शिक्षाओं से सहस्त्र गुनी श्रेष्ठ यह तीसरे प्रकार की आध्यात्म विषयक शिक्षा ही वह शिक्षा है जिसमें सफलता प्राप्त करना ही प्राचीन विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सदा–सदा से रहा है। यही शिक्षा योग विज्ञान अर्थात् आत्मिकज्ञान की शिक्षा है आज समस्त शैक्षिक संस्थाओं में न शिक्षक ही आत्मिक ज्ञान के प्रति निष्ठावान हैं। और न छात्रों में ही इसे प्राप्त करने की कोई जिज्ञासा है। अधिकांश लोगों का उद्देश्य अब मात्र इन्जीनियर–डॉक्टर बनना रह गया है। सर्वत्र योग विद्या का अभाव ही अभाव दिखलाई पड़ता है किन्तु 'सम्यक् ज्ञान' तो योग विद्या के अभाव में कभी सम्भव नहीं है।

तुम ऐसा मत समझ लेना कि मैं **'आधुनिक शिक्षा के उद्देश्यों वाली'** शिक्षा प्रणाली द्वारा पोषित शिक्षित बुद्धिजीवी समाज से द्वेष रखता हूँ अथवा उनका कटु आलोचक हूँ। आधुनिक सभ्यता के वे शिक्षित लोग जो प्राचीन सदोपयोगी सिद्धान्तों में अपनी श्रद्धा रख कर उन्हें अपने आचरण में उतारते हुये, वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपभोग, अपने सांसारिक जीवन को श्रेष्ठ व महान बनाने में करते हैं। वास्तव में यही लोग ईश्वर के सच्चे उपासक हैं जो कलयुग के कठिन समय में सुखपूर्वक (क्लेश रहित अर्थात् आत्मिक शान्ति युक्त) जीवन व्यतीत करने का उचित मार्ग जानते हैं यही लोग ईश्वर को अत्यन्त प्रिय हैं। इन सन्तोषी व्यक्तियों के आन्तरिक सौन्दर्य से ही भारतीय संस्कृति की गतिमा हमेशा–हमेशा से प्रफुल्लित–पल्लवित रही है। किन्तु कलिकाल के वे सकामी शिक्षित लोग, जो प्राचीन सर्वमानव हित में प्रयुक्त सिद्धान्तों और मर्यादाओं का उल्लंघन करते हुये, आधुनिक विषयोपभोगी जीवन की सफलताओं से सम्बद्ध अज्ञानी बड़े लोगों (ख्याति प्राप्त) के स्वनिर्मित सिद्धान्तों–उपायों को ही मान्यता देते हैं अर्थात उनकी स्वीकृति पर ही बल देते हैं तब मेरा हृदय व्यथित हुये बिना नहीं रहता। ये लोग आदिकाल से सर्वमान्य 'धर्म' में तो विश्वास करते है किन्तु अज्ञानता के कारण 'अधर्म' ही इन्हें अपना 'स्वाभाविक धर्म' प्रतीत होता है। इसकी दुर्गति को देखकर संतों के हृदय में अत्यन्त करुणा उमड़ती है किन्तु ये अज्ञानी लोग उनके धर्मानुकूल नियमों को अपना 'विरोधी धर्म' समझकर, रोषपूर्ण तीक्ष्ण शब्दों से संत–पुरुषों का अपमान कर देते हैं। तब ऐसे दुर्मति पुरुषों से असंयुक्त रहना ही श्रेष्ठ पुरुषों के लिए सर्वथा उचित है।

(क्रमशः)

आस्थाओं की अध्यात्म परिणति

प० महेश चौहर, ज्योतिर्विद

भारतीय संस्कृति में आस्थाओं की अध्यात्म परिणति का बड़ा महत्व है, क्योंकि उनमें निकृष्ट को उत्कृष्ट तथा मल में देवत्व जगाने की अद्‌भुत शक्ति निहित है। आस्थायें हमारी संस्कृति की आधार शिलायें हैं। आस्थाओं के द्वारा ही हमारे जीवन में श्रद्धा और समर्पण भाव की जागृति होती है। आस्थाओं के बल पर ही हम प्रबल आत्म शक्ति प्राप्त करके संकल्पवान बनते हैं तथा यही संकल्पित भाव हमारी साधनाओं को फलीभूत करता है।

कर्मवान के लिए जीवन में दृढ़ संकल्पशक्ति उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार से भोजन बनाने में अग्नि की तपन, इसीलिये हमारी भारतीय संस्कृति में कर्मारूढ़ होने से पूर्व नैष्ठिक भाव के साथ संकल्पित होना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि इसी नैष्ठिक संकल्प भाव में अपार कर्मशक्ति सन्निहित है जो कर्मवान बनाती है। कर्मवान की कर्म परायणता फलाश्रित न रहकर पूर्ण रूप से कर्माश्रित ही रहती है तथा यही कर्मवान की कर्मपरायणता एवं कर्मशीलता है जिसे गीता में भी स्पष्ट किया है:—

''कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्''

कर्म की सार्थकता, उसके करने में हमारी कर्मरती अर्थात तन्मयता पर निर्भर करती है। लौकिक जीवन में प्रवृत्त होकर जब हम कोई कार्य करते हैं तो हमारी आत्मा और मन दोनों उसी कार्य में लीन हो जाते है तथा आत्मा और चित्त की तल्लीनता पूर्वक हमारी यही कर्मशीलता हमें संतुष्टि का बोध कराती है। स्नान के समय जल क्रीड़ा का आनंद, भोजन के समय उसके रसास्वादन का सुख तथा श्रृंगार के समय पूर्ण तन्मयता के साथ नख—शिख अन्वेक्षण करने में हमारी जो एकाग्रतापूर्ण चित्त—वृत्ति बनती है वही हमारी कर्मण्येव की गति है जिसमें हमें कर्म के साकार सुख की अनुभूति होती है।

कर्म में निहित सुख की अनुभूति ही कर्मसिद्धि है जो दत्तचित्त भाव या मन की एकाग्रता से प्राप्त होती है तथा मन की एकाग्रता ही साधना है। लौकिक कर्म प्रवृत्ति के समय हमारी जो एकाग्रता भोग—विलास और भोजन के समय बनती है, वही एकाग्रता एवं दत्तचित्त भाव भगवत भजन के लिये **''एक घड़ी आधी घड़ी आधी में पुनि आध''** के हिसाब से भी यदि उत्पन्न करली जावे तो आत्म में परमात्मा की अनुभूति एवं प्रागट्य सुनिश्चित है। क्योंकि दत्तचित्त भाव और एकाग्रता के लक्षण मन की निश्छलता और निर्मलता में ही निहित रहते हैं तथा जहां मन की निर्मलता है वहीं भगवत प्राप्ती एवं आत्म परमात्म दर्शन संभव है, गोस्वामी तुलसी दासजी ने रामचरित मानस में भगवान राम के माध्यम से यही भावाभिव्यक्ति की है:—

''निर्मल मन जन सो मोहिं पावा, मोहि कपट, छल, छिद्र न भावा''

इसी बात को वेदव्यासजी ने श्रीमद्भगवत गीता में भगवान कृष्ण के माध्यम से उपदेशित किया है –

''मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी माम् नमस्कुरु,

मामेवैष्यसि युक्तवैम् आत्मान मत् परायणम्''

नैष्ठिक संकल्पित भाव के साथ जब हम मन्मनाभव की स्थिति में पहुँचते हैं तो निकृष्टता में उत्कृष्टता उत्पन्न करके हमारी आस्थायें मल (गोमय) में भी देवत्व के दर्शन करा देती हैं तभी तो भारतीय संस्कृति में दाम्पत्य जीवन के मांगलिक प्रसंग गोबर गणेश की स्थापना के द्वारा पूर्ण किये जाते हैं। भगवान गणेशजी जन–जीवन में बुद्धि विकास करते हैं, इसलिए उन्हें बुद्धि विनायक कहा जाता है। जो व्यक्ति गोमय स्थापित गणेश के प्रति अपनी मानसिकता केवल गोबर की ही रखता है तो उसकी मानसिकता में गणेशजी अर्थात बुद्धि–विनायक का भाव जागृत नहीं होने से उसे बुद्धिहीन मानकर यही कहा जाता है कि ''तेरे दिमाग में गोबर भरा हुआ है।'' आस्थाओं की आध्यात्मिक परिणति के रूप में, सहज सरल लौकिक जीवन से जुड़ी हुई हमारी मन्मनाभव की यही स्थिति तो है जिसमें शुद्ध भावनात्मक रूप से आत्म में परमात्म दर्शन होते हैं क्योंकि भावना और भगवान भी एक दूसरे के पूरक हैं। इस लौकिक जीवन में भगवत प्राप्ति का सुख भावना पर ही तो आधारित है। इसीलिये तो यह बात कही गई है कि :–

''जाकी रही भावना जैसी,

प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।''

* * *

आत्मा वाणी और मन से प्राप्त नहीं होती है तथा न नेत्रोंसे देखी जा सकती है। न कान से सुनी जा सकती है, न स्पर्श की जा सकती है। यह अनिर्वचनीय है। वह वस्तुतः बुद्धि से परे की वस्तु है। आत्मा न शास्त्रों के पढ़ने से मिलती है, न सुनने से और न सुने हुए को स्मरण रखने से ही प्राप्त होती है। जब कोई साधक प्रबल इच्छा से उसकी प्राप्ति का साधन करता है तब आत्मा स्वयं कृपा करके दर्शन देती है। यही उसका साक्षात्कार है। वह नाम और रूप से परे है।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः।।

वे.द. २/४/१०

प्राण भी चक्षु आदि इन्द्रियों की भाँति जीवात्मा का उपकरण है। क्योंकि उन्हीं के साथ प्राण और इन्द्रियों के सम्वाद में इसका वर्णन किया गया है तथा उनकी भाँति यह जड़ भी है ही।

* * *

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।

श्रीमद्भगवद्गीता ।७/१५।।

माया के द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर स्वभाव को धारण किए हुए मनुष्यों में नीच दूषित कर्म करने वाले मूढ़लोग मुझको नहीं भजते।

* * *

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।

श्रीमद्भगवत्गीता १६/५

दैवी सम्पदा मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पदा बाँधने के लिए मानी गई है। इसलिए हे अर्जुन ! तू शोक मत कर क्योंकि तू देवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है।

* * *

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ------------------------------

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चिन्तः स जीवन्मुक्त इष्यते।।

विवेक चूडामणि/४३१

जिसकी संसार-वासना शान्त हो गयी है, जो कलावान होकर भी कलाहीन है अर्थात् व्यवहारदृष्टि में ऊपर से विकारवान् प्रतीत होता हुआ भी जो निरन्तर अपने निर्विकार, स्वरूप में ही स्थित रहता है तथा जो चित्तयुक्त होने पर निश्चिन्त है, वह पुरुष जीवन मुक्त माना जाता है।

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326